आचार्य चाणक्य भारतीय राजनीति के
जन्मदाता हैं। राजनीति और मानव
नीति पर उनके उपदेश अतुलनीय और
अमर हैं। उनका महान् ग्रंथ 'चाणक्य-
नीति' और 'चाणक्य-सूत्रम्' हैं।
'चाणक्य-सूत्रम्' में आचार्य ने छोटे-छोटे
सूत्रों में अद्भुत नीति ज्ञान दिया है
इन पर अमल कर कोई भी अपना
जीवन सफल कर सकता है।

चाणक्य-सूत्र



साधना पॉकेट बुक्स

प्रकाशक साधना पॉकेट बुक्स
39 यू० ए० बँग्लो रोड
दिल्ली 110007
दूरभाष 2914161
2516715

साधना पॉकेट बुक्स

संस्करण 1990

मूल्य 15 00

मुद्रक कुमार आफसेट प्रिंटिंग प्रेस
6/108 गली न० 3, विश्वास नगर, शाहदरा, दिल्ली 110032

CHANAKY SOOTRA Price Rs 15/

आचाय चाणक्य भारतीय राजनीति के उदभट विद्वान् थे। एक प्रकार से वह भारतीय राजनीति के जन्मदाता माने जाते है। ईसा पूर्व चौथी शताब्दी मे जब यूनान के राजा सिकन्दर ने और बाद मे सैल्यूकस ने भारत पर आक्रमण किया था, तो उस समय आचाय चाणक्य की राजनीति ने ही इस देश की रक्षा की थी। आचाय चाणक्य मौर्य साम्राज्य के निर्माता थे।

उन्होंने न केवल सफलतापूर्वक एक विशाल साम्राज्य का सचालन मन्त्री रूप मे किया वरन् भारतीय राजनीति की दिशा भी निर्धारित की। उन्होंने अनेक अमर ग्रथो की रचना की। कुछ प्रमुख ग्रथ इस प्रकार हैं—

लघु चाणक्य १०८ श्लोक।
वृद्ध चाणक्य २५० श्लोक।
चाणक्य नीति ३४८ श्लोक।
राजनीतिशास्त्र १००० श्लोक।
कौटिल्य अर्थशास्त्र २००० श्लोक।
चाणक्य सूत्र ५७१ श्लोक।

वह अपने समय के उद्भट विद्वान थे। प्रामाणिक जीवनी के लिये हमारा प्रकाशन **चाणक्य-नीति** पढें।

'चाणक्य सूत्र' अपने आपमे एक महान ग्रथ है। आचाय प्रवर ने एक-एक सूत्र मे मानो गागर मे सागर भर दिया है। जीवन के हर क्षेत्र मे काम आने वाले और मानव जीवन के वास्तविक रूप उजागर करने वाले यह सूत्र हर युग और समाज पर सदा खरे उतरते हैं। इनका अनुसरण कर एक साधारण मानव भी अपना जीवन सुखी और सम्पन्न बना सकता है, वह निष्कटक रूप मे अपना जीवन यापन कर सकता है।

यह सूत्र मानव-जगत व्यवहार मे पग-पग पर उपयोगी हैं। विदेशी विद्वानो न इनकी मुक्त कठ से प्रशसा की है। मानव-व्यवहार का ऐसा सूक्ष्म विवचन पढकर दग भी रह गये हैं। भारत की प्रगति और बौद्धिकता का यह जगमगाता रत्न है।

'चाणक्य सूत्र' मे कुल ५७१ श्लोक हैं, पर इनमे पाठान्तर भी है। अतएव इस पुस्तक मे पाठान्तर भी यथास्थान दे दिया गया है।

सन् १९१९ म मसूर विश्वविद्यालय द्वारा प्रकाशित 'चाणक्य सूत्र' और १९७१ म श्री प० ईश्वरचन्द्र शर्मा शास्त्री द्वारा प्रणीत कलकत्ता से प्रकाशित सस्कृत व्याख्या वाले 'चाणक्य-सूत्रम्' के आधार पर यह पुस्तक सकलित है।

प्रामाणिकता का परा ध्यान रखा गया है।

आशा है, यह पुस्तक प्रत्येक पाठक के जीवन का माग-दशक बनेगी।

—गोबिन्द सिह

चाणक्य-सूत्र

सा श्रीर्वोऽव्यात् !

यह परम सम्पत्ति को प्रदान करने वाली ऐश्वर्य की अधिष्ठात्री देवी 'राज्यश्री' आप राज्याधिकारियों को सुमति देकर रक्षा करे।

'राज्यश्री' आप लोगों के समीप आकर आपको अधिकार मदमत्त न बनाकर समाज सेवा के सर्वोत्तम साधन राज्यसंस्था का सुचारुरूप से संचालन करने की सद्बुद्धि प्रदान करे। आप लोग राज्य को राष्ट्र की पवित्र धरोहर मानकर इस कार्य को राष्ट्र सेवा का तपोवन बनाकर रखें और एक आदर्श 'रामराज्य' की संस्थापना करें।

सुखस्य मूलं धर्मः ।

धर्म का पालन ही सुख का मूल है। धर्म का आशय यहां पर मानवोचित कर्त्तव्य का पालन है।

जगत् का धारण, पालन करनेवाली नीतिमत्ता, कर्तव्यपालन ही मनुष्य का धर्म है। धर्म, नीति ने ही समस्त जगत् को धारण कर रखा है अन्यथा वह कभी का लड़-झगड़कर नष्ट हो गया होता। अधर्म आपातदृष्टि से सुख का मूल दीखने पर भी दुःख का मूल है। धर्म पालन से दुःखदायी पाप की सम्भावनायें नष्ट हो जाती हैं। मानसिक अभ्युत्थान और ऐहिक अभ्युदय दोनो को समान रूप से साथ-साथ सिद्ध करने वाली नीति ही "धर्म" कहाती है। इसलिये जो लोग राज्याधिकार लेना और उसका सुख, दोनो प्रकार का अभ्युदय पाना चाहें सावधान हो जायें और उससे भी पहले नीतिमत्ता को अपनायें। नीति का अनुसरण किये बिना मनुष्य को मानसिक अभ्युत्थानमूलक सच्चा सुख प्राप्त नहीं हो सकता है। मानसिक अभ्युत्थानमूलक सुख ही सुख है। मानसिक पतन से मिलने वाला सुख, सुख न होकर अनन्त दुःख जाल ही है।

धर्मस्य मूलमर्थः ।

धर्म का मूल अर्थ है।

धर्म अर्थात् नीतिमत्ता को सुरक्षित रखने में ही 'राज्यश्री' राज व्यवस्था का हित है। इसमें गड़बड़ होने पर प्रजा में अनीति का चलन हो जाता है। अनीति को रोकने के लिये उपरोक्त व्यवस्था अत्यन्त आवश्यक है। राज्य-संस्था जितनी तेजस्वी और सम्पन्न होती है, प्रजा उतनी ही नीतिपरायण बनती है। व्यवधान होने पर राष्ट्र व्यवस्था बरसाती नदियों के समान लुप्त हो जाया करती हैं।

अर्थस्य मूलं राज्यम् ।

राज्य की स्थिरता तो अर्थ पर ही आश्रित रहती है। किसी भी राज्य को उसकी अर्थ व्यवस्था ही स्थिर रखती है। अगर राज्य की अर्थ व्यवस्था डगमग हो गयी, तो राज का अस्तित्व खतरे में पड़ जाता है। राज को

सुदृढ अर्थ व्यवस्था राज के सुप्रबंध पर निर्भर करती है। इसमे राज कर्म-चारियो का ही योगदान रहता है। अतएव राज अधिकारी इस प्रकार जन सहयोग से राज को ऐश्वर्यशाली बनायें कि जन असंतोष न बढे। जनता का प्रसन्नतापूर्ण हार्दिक सहयोग प्राप्त हो। यहा पर आचार्य का संकेत राज की कर व्यवस्था की ओर है कि इस प्रकार के 'कर' लगाये जायें, जो जनता के दुःख के कारण न बनें। जनता उत्साह प्रसन्नता के साथ 'कर' मे योगदान करे। उसे कर-वंचना (टैक्स चोरी) करने पर बाध्य न होना पडे। कर सर्वप्रिय होने चाहिए।

राज्यमूलमिन्द्रियजय ।

अपनी इन्द्रियो पर अपना आधिपत्य बनाये रखना राज्य की स्थिरता का सबसे बड़ा आधार है। इन्द्रियजयी व्यवस्था ही राज्य को दीर्घ जीवी बनाती है। राज्याधिकारियो की विषय लोलुपता या स्वार्थ परायणता राज्य को निर्बल बना देती है। जब राज्य कर्मचारी प्रजा-धन ऐंठने लगते हैं और उसे राज-कोष मे जमा नहीं करते हैं, तो प्रजा मे विद्रोह होता है। राज्य की अर्थ व्यवस्था जर्जर हो जाती है। इस प्रकार राज्य के प्रत्येक कर्मचारी का इन्द्रियजयी होना आवश्यक है। ऐसे लोग जो चरित्रहीन हैं (यहा चरित्र का अर्थ व्यापक रूप मे लिया गया है।) के व्यवहारो के कारण राज-संस्था कभी सुरक्षित नही रह सकती है। इन्द्रियो पर विजय न पाने वाले राज अधिकारी लोग जनता को राज्य का शत्रु बना देते हैं। अविजितेन्द्रिय राज कर्मचारियो की भूलें, स्नान करके अपने ही ऊपर धूल फेंकने वाले हाथी के समान राज्य-संस्था को मलिन बना देने वाली होती हैं। विषय-लोभी राज कर्मचारियो की भूलें अपनी राज्य-संस्था को अपयश दिलाने वाली उसे अश्रद्धेय तथा घृणास्पद बना डालने वाली हो जाया करती हैं।

इस श्लोक का एक रूप 'राजस्य मूलमिन्द्रिय जय' भी है।

इन्द्रियजयस्य मूलं विनय ।

विनय के द्वारा ही इन्द्रियो पर विजय प्राप्त की जा सकती है। विनीतो की संगत मे रहकर उनसे शासन सम्बन्धी सत्यासत्य का

विचार सीखकर सत्य को पहचान कर, सत्य के माधुर्य से मधुमय होकर, अहंकार त्यागकर सत्य के बोझ के नीचे दबकर नम्र हो जाना ही विनय है। पात्रापात्र परिचय, व्यवहार कुशलता, सुशीलता, शिष्टाचार, सहिष्णुता, उचितज्ञता, न्यायान्यायबोध तथा कार्याकार्यविवेक आदि सब विनय के ही व्यावहारिक रूप माने गये हैं।

विनयी मनुष्य की इन्द्रियां उसकी सुविचारित स्पष्ट आज्ञा के बिना संसार में कहीं एक पग भी नहीं डालती हैं। उसकी इन्द्रियों के पैरों में धर्म की वह भारी शृंखला पड़ी रहती है जो उन्हें कुमार्ग पर जाने ही नहीं देती है। नम्रता सुशीलता आदि सब विनीत धर्म हैं। मन के धर्म परायण होते ही इन्द्रियां अपने आप विजित हो जाती हैं और आत्म समर्पण करके रहने लगती हैं। विनयी मनुष्य अपनी स्थिरता तथा धीरता के प्रभाव से अपनी इन्द्रियों पर अधिकार कर लेता है। अविनीत मनुष्य उद्दण्ड होता है। उसकी इन्द्रियां प्रत्येक समय उसे अधिकार हीन कार्यों तथा अनुचित भोग के लिये विवश करती है। राज के अधिकारी जनता के साथ विनम्रता का व्यवहार कर राज को स्थायित्व रूप दे सकते हैं। वह जनता के साथ नम्रता का व्यवहार करें, अन्यथा जनता विद्रोह कर देगी।

विनयस्य मूलं वृद्धोपसेवा।

ज्ञान वृद्धों की (प्रकाण्ड विद्वान जो ज्ञान के कारण बूढ़े हो गये हैं) सेवा विनय का आधार है।

जो लोग ज्ञानवृद्ध हैं, उनकी सेवा करने से ही विनय का जन्म होता है मनुष्य को विद्वानों की संगति करना चाहिए। उनके पास संचित ज्ञान धन को प्राप्त करना चाहिए। दण्डनीति तथा व्यवहार कुशलता के पाठ ज्ञान वृद्ध व्यक्ति से ही सीखे जा सकते हैं राजा और राज कर्मचारियों को भी विनयपूर्वक विद्वानों की सेवा कर उनसे ज्ञान प्राप्त करना चाहिए।

वृद्धसेवाया विज्ञानम्।

वृद्ध पुरुषों की सेवा के द्वारा मनुष्य व्यवहार कुशलता का ज्ञान प्राप्त कर सकता है। उनसे ही कर्तव्य-अकर्तव्य की पहिचान करना ज्ञान

सकता है। जब मनुष्य आग्रह और श्रद्धा से ज्ञानवृद्धो के पास निरन्तर उठता बैठता रहता है, उनके वातावरण का अग बनकर रहता है, उन्हें अपनी भूलें बताने और उन पर नि दाक टाकते रहन का असीम अधिकार देकर रखता है तो वह वृद्धो की श्रद्धामयी सेवा से विनय प्राप्त करता है और उसम काय कुशलता भी आ जाती है।

विज्ञानेनात्मान सम्पादयेत।

राज कमचारी, राजशासन करने वालो के लिये आवश्यक है कि वह व्यवहार कुशलता प्राप्त करने के बाद अपने आपको योग्य शासक बनायें। चतुर शासक बनना ही राजा के लिये शोभनीय है। इसके साथ-साथ शासन विभाग म ऐसे लोगो का सम्पादन किया जाये (नियुक्त किये जायें) जो अपना पद स्वार्थ साधन का माग न बनाकर सेवा भाव से काय करें। महत्वपूण कार्यों मे विलम्ब न करें। ऐसे शासकीयकमचारियो के बल पर ही राजा का शासन दीर्घायु प्राप्त करता है, अन्यथा विपरीत होन पर राज अकाल मृत्यु को प्राप्त होता है।

सम्पादितात्मा जितात्मा भवति।

शासकोचित सत्य व्यवहार करना सीख लेने वाला ही जितेन्द्रिय हो सकता है, तब वह अपने कत्तव्य का पालन कर सकता है। मनुष्य की सत्य निष्ठा या कत्तव्य परायणता ही उसकी जितात्मता होती है। मनुष्य के अ तरात्मा की प्रस नता निमलता स्वच्छता ही उसका जितात्मा होना ही विजय है। नीति तथा विज्ञान से युक्त मानव को सपादितात्मा कहा गया है। सत्य ही नीति का सार या सवस्व है। सत्य के विना मनुष्य का आत्म-विकास नहीं होता है। सत्यदशन के बिना समस्त प्रजावग मे राज्या-धिकारियो की वह आत्मबुद्धि नही हो सकती है, जो एक अच्छा लोक-कल्याणी राज्य चलाने वाले राजाओ या राज्याधिकारियों की अनिवाय आवश्यकता है। जो राज्याधिकारी या कमचारी अपने पर ही सयम, शासन नही रख सकता है, वह औरो पर क्या शासन करेगा।

जितात्मा सर्वार्थै सयुज्येत।

जितात्मा नीतिवान लोग अपनी समस्त सम्पत्तियो से सम्पन्न

रहते हैं। यह प्रकृति और ईश्वर का नियम है। जितेन्द्रिय लोग जिस काम मे हाथ डालते हैं, उसे पूरा करके समस्त सपत्तियों से सपन्न हो जाते हैं। ऐश्वर्य और सिद्धिया जितेन्द्रियो के पास आने के लिये उतावली हो जाती हैं। वे लोग सामाजिक कार्यों को अपनी निर्लिप्त मानसिक स्थिति के सहारे से पौरुष के साथ करने की योग्यता पा जाते हैं। इसीलिये आत्म-विजय, सम्पत्ति के अर्जन से पहला काम है। राजसस्था जितेन्द्रिय लोगो का सपोषन है।

राजकीय गुणो से रहित लोगो का राज्याधिकार तो एक प्रकार का लूट का ठेका होता है। राजशक्ति का अयोग्य हाथों मे आ जाना राष्ट्र का महान् दुर्भाग्य है।

इस श्लोक का एक रूप 'जितात्मा सर्वार्थैस्संयुज्यते' भी है।

अर्थसम्पत्प्रकृतिसम्पदं करोति।

राजाओं की अर्थ सम्पत्ति से प्रजा की भी सम्पत्ति मे वृद्धि स्वाभाविक रूप से हो जाती है।

शासन की सुव्यवस्था राजा प्रजा दोनो को सम्पन्न बना देती है। राज्य की आर्थिक सपन्नता या उसका ऐश्वर्यलाभ ही प्रजा की अर्थ वृद्धि कर सकता या प्रजा को राज्यसस्था मे अनुरक्त बनाकर रख सकता है।

यदि राजा राज्यकर्मचारी नीतिमान, विनयी और जितेन्द्रिय होते हैं, तो फिर प्रजा भी इन सब गुणो से सम्पन्न हो जाती है। प्रजा राज्य के चरित्र के अनुसार ही अपना चरित्र बनाती है।

राज्ञि धर्मिणि धर्मिष्ठा पापे पापा समे समा,
राजानमनुवर्तन्ते यथा राजा तथा प्रजा।

राजा के धर्मात्मा होने पर प्रजा धर्मात्मा पापी होने पर पापी सम होने पर सम बन जाती है। प्रजा तो राजचरित्र का अनुकरण किया करती है। जैसा राजा होता है वैसी ही प्रजा बन जाती है।

इस श्लोक का एक रूप 'स्वामिसम्पत् प्रकृति सम्पदं करोति' भी है।

प्रकृतिसम्पदा ह्यनायकमपि राज्य नीयते ।

प्रजा के नीति सम्पन्न होने पर किसी कारण वश राजा का अभाव हो जाने पर भी राज्य ठीक ढग से चलता रहता है। नीतिमान राजा के अभाव से मन्त्रिगण राजकर्मचारी तथा कर देने वाली प्रजा में प्रमुख पुरुष भी राजोचित नीति विनय, कर्मकौशल, न्यायान्याय, कार्याकार्य विवेक मे सपन्न हो जाते हैं। ऐसी स्थिति मे राजा के असाध्य रोगी या अकस्मात् अन्त हो जाने पर भी उस राज्य का परिचालन बना रहता है। देश का जनमत योग्य राज्यसत्ता के प्रभाव से सुशिक्षित होकर स्वय ही राज्य-सस्था का सचालन बन जाता है। बात यह है कि जनमत के अतिरिक्त राज्यसत्ता को जन्म देने वाली और कोई शक्ति नही होती है।

प्रकृतिकोप सर्वकोपेभ्यो गरीयान ।

समस्त रोषो मे सबसे भयकर रोषो (प्रकोप) जनता का रोष होता है। मन्त्रियो राज्यकर्मचारियो, प्रजा मे राज्य के विरुद्ध रोष उत्पन्न हो जाना समस्त अनर्थों से भयकर है। प्रजावर्ग की शुभेच्छा और स्वीकृति ही राज्यसस्था का मूल है। जनमत मे राज्यसस्था के सबध मे क्षोभ या रोष उत्पन्न हो जाना, राज्यसस्था के लिये महा अनिष्टकारी है। जब प्रजावर्ग राज्य के दुष्प्रबन्ध तथा दुष्ट राजकर्मचारी, भेडियो के उत्पीडनो से त्रस्त होकर, कानून को हाथ मे ले लेने के लिये विवश कर दिया जाता है तब राज्यसस्थाओ के नष्ट होने मे एक क्षण भी नही लगता है। एक बलवान नारा लगने की देर होती है और राज्यसस्था धूल मे मिल जाती है।

अविनीतस्वामिलाभादस्वामिलाभ श्रेयान् ।

अयोग्य व्यक्ति को राजा बनाने की अपेक्षा किसी को राजा न बनाना अधिक अच्छा है। अयोग्य राजा से राज्य को पचायती राज्य (प्रजातन्त्रीय व्यवस्था) का रूप देना श्रेयस्कर है। नीतिहीन, सत्यहीन, समुद्धत, अन्यायी, अत्याचारी, स्वार्थी राजा बनाने के लिये कोई उपयुक्त व्यक्ति न मिले, तो राजा बनाने की योग्यता तथा अधिकार रखने वाले सुशिक्षित जनमत का अनिवार्य कर्तव्य हो जाता है कि राजतन्त्र को अपने ही हाथों मे रख

गणतन्त्र की स्थापना करे। किसी का राजा बनाना राष्ट्र की अनिवार्य आवश्यकता नहीं है।

इस श्लोक का एक रूप 'अविनीत स्वामियावादस्वामिलाभ श्रेयान्' भी है।

सम्पाद्यात्मानमन्विच्छेत् सहायवान्।

राजा अपने को राजोचित गुण से सम्पन्न बनाकर अपने ही जैसे गुणी सहायकों, राज्य कर्मियों को साथ रखकर राज-काज करे। राजा या राज्याधिकारी पहले अपने आपको अपनी इन्द्रियों को तथा मन को नीति, सत्य, विनय आदि शासकोचित गुणों से सम्पन्न बना लें, तब ही राज्य-संस्था में हाथ लगायें और तब योग्य गुणी साथियों को साथ लेकर कार्य-भार संभालें।

इस श्लोक का एक रूप 'सम्पाद्यात्मानमविच्छेदत महायान भी है।

नासहायस्य मन्त्रनिश्चय।

मन्त्रि परिषद की बौद्धिक सहायता से हीन अकेला राजा (शासक) अपने कर्तव्याकर्तव्य का उचित निर्णय नहीं कर सकता है।

राज्याधिकारियों को प्रभावशाली बुद्धिमान मन्त्रियों की आवश्यकता रहती है। इसमें सहायकों की अनिवार्य आवश्यकता है। राज्य की समस्याएं समस्त प्रजा की समस्यायें होती हैं। इसलिए राजा या राज्याधिकारी लोग अपने राज में व्यवहार कुशल चरित्रवान् सर्वश्रेष्ठ बुद्धिमानों का चयन कर उनके अनुभवों से लाभ उठाकर, अपने राष्ट्र को विपत्तियों से बचायें और सम्पन्न करें।

राजा को व्यवहार-कुशल सदाचारी, विद्वानों को सदा अपना सहयोगी बनाये रखना चाहिये। राष्ट्रीय कर्तव्यों के विषय में इन सब लोगों का एकमत्य हो जाना ही 'मन्त्र' कहा गया है।

नैकं चक्रं परिभ्रमयति।

जैसे रथ का एक अकेला पहिया रथ को नहीं चला पाता है, उसी

प्रकार मन्त्रिपरिषद विहीन या एकतन्त्रीय राज का रथ नही चलता है।

सार्वजनिक कार्यों म अकेले मनुष्य की कोई प्रतियोगिता नहीं होती है। अकेला राजा केवल चाटुकारो के बल पर शासन करता है अर्थात उसके साथ योग्य मन्त्रिपरिषद नही है, तो ऐसी शासन व्यवस्था जनता द्वारा उखाडकर फेंक दी जाती हैं। राज राजा की पारिवारिक सम्पत्ति नही होती है। वह तो जनता की धरोहर होती है।

इस श्लोक का एक रूप 'नैक चक्र परिभ्रमति' भी है।

सहाय सम सुख-दु ख ।

सुख-दुख दोनो मे बराबर साथ देकर काय करने वाला मन्त्री ही सर्वोत्तम सहायक माना जाता है।

सुख-दुख की एक सी अनुभविता दु ख का एक सा प्रतिकर्मा ही सहायक कहा गया है। सुख दु ख मे तटस्थ रहने वाला सहायक हितैषी नहीं माना जा सकता है। सहायक सम शक्ति, हीन शक्ति तथा प्रबल शक्ति, तीन प्रकार के हो सकते है। यह भेद उनकी परिस्थिति पर निर्भर करता है। तीनों प्रकार के सहायक समान भाव से अपनाने योग्य होते हैं।

इस श्लोक का एक रूप 'सहाय समो दु ख-सुख' भी हैं।

मानी प्रतिमानिनमात्मनि द्वितीय मन्त्रमुत्पादयेत् ।

विवेकशील स्वाभिमानी राजा प्रबंध संबंधी जटिल समस्याओ क आने पर अपने प्रतिमानी विचारों द्वारा निष्कर्ष निकाल लिया करे और फिर उसी अनुरूप आचरण करे।

राजा विचारणीय समस्या के अनुकूल, प्रतिकूल दोनो रूपों, करने न करने अथवा समस्त परिणामो पर दृष्टि डालने के लिये उपस्थित विचारणीय कर्तव्य का विरोध करने वाली प्रतिकूल युक्तियों द्वारा अपने निर्णय को अभ्रान्त तथा अखण्डनीय रूप देकर कर्तव्य का पालन करें। वह इन कार्यों के विषय मे अनुकूल, प्रतिकूल दोनो पक्षों को स्वयं ही सम्मति मागने और स्वयं ही सम्मति देने वाला द्विभागात्मक बनकर निर्णय करे

इस श्लोक का एक रूप 'मानी प्रतिपतिमानात्मद्वितीय मं

मुत्यादयन' भी है।

यशस्वी, प्राज्ञ, समृद्ध, उत्साही, प्रभावसपन्न, कष्टसहिष्णु, कठोरकर्मा, शुचि मिष्टव्यवहारी तथा राजसस्था के साथ सुदृढ अनुराग रखने-वाला स्वराष्ट्रवासी व्यक्ति मन्त्री होना चाहिये।

अविनीत स्नेहमात्रेण न मन्त्रे कुर्वीत।

कार्य की गुरुता उसके सम्पादन की योग्यता अयोग्यता ही कर्ता की शक्ति की कल्पना होती है। उसीसे उसे योग्य या अयोग्य ठहराया जाता है। कार्यो की निपुणता ही मन्त्रियो का सामर्थ्य माना गया है।

श्रुतवन्तमुपधाशुद्ध मन्त्रिण कुर्वीत।

तर्कशास्त्र, दडनीति, वार्ता आदि गुणो मे पारगत तथा गुप्तरूप से ली हुई परीक्षाओ म खरा प्रमा मित होने वाले व्यक्ति को ही मन्त्री पद पर नियुक्त करना चाहिए।

मन्त्रमूला सर्वारम्भा।

भविष्य मे किये जाने वाले सब कार्य चितन से ही सुसम्पन्न होते हैं।

विशेषज्ञो के साथ उन कर्मों की विधियो, साधनो तथा कर्ताओ की सागोपाग चिन्ता ही समस्त कर्मों की मूल प्रारंभिक आधारशिला है। कर्मों के समस्त उपक्रम विवेकपूर्वक होने पर ही समीचीन होते हैं। तब उनके सुफलोत्पादक होने का सुनिश्चित विश्वास हो जाता है। सोचकर किये हुए कर्म ही समीचीन होते हैं।

मन्त्ररक्षणे कार्यसिद्धिर्भवति।

किसी भी कार्य के सबध की हित—अहित सबधी योजना को गुप्त रखने से ही कार्य सिद्ध हो पाता है।

कार्यों के उद्देश्य, उनके साधन, उनके स्थान उनकी विधि गुप्त रखने से ही कार्य निर्विघ्न होते हैं। कार्य सिद्धि से पहले उसका पता शत्रुओ को

चल जाने पर उसे उद्व्यय करने का अनायास अवसर मिल जाता है और तब काय सिद्ध होने से रह जाता है।

इस श्लोक का एक रूप 'मन्त्र संवरणे कार्यसिद्धिर्भवति' भी है।

मन्त्रविस्रावी कार्यं नाशयति।

किसी भी प्रकार से असावधानी करने पर योजना की गोपनीयता भग हो जाती है और तब सारा काय बिगड जाता है। अतएव राजकाज, प्रबध अन्यान्य विषयो सबधी योजना पर ऐसे सहायको से विचार विमश करें, जो उसे गोपनीय रख सकते हैं। यदि कोई उत्तरदायित्व वाला मंत्री मन्त्र भेद कर दे तो 'उच्छिद्येत मन्त्र भेदी" उसे मरवा डालना चाहिए। (आचाय चाणक्य के 'कौटिल्य अथशास्त्र' के अनुसार) बृहस्पति ने कहा है कि "मन्त्रमूलो विजय' अर्थात सब कार्यों मे सफलता मन्त्रो से ही मिलती है। मन्त्र भेद मे राज्यो के योगक्षेम मिट जाते हैं। मन्त्रियो के भी कुछ मन्त्री होते हैं तथा उनके भी कुछ श्रोता तथा मन्त्रणादाता होते है। यही परम्परा मन्त्रभेद किया करती है। इसलिये राजा जिस किसी मन्त्री से मन्त्रणा न कर केवल प्रधानमन्त्री से करे और वह उसकी सुरक्षा का पूण उत्तरदायी हो। उस प्रधानमन्त्री को आवश्यकता प्रतीत हो तो वह अपने उस विषय के विशेषज्ञो से मन्त्रणा कर बात का मम जानकर उस पर राजा के साथ विचार-विमश कर अन्तिम निणय पर पहुचे।

प्रमादाद् द्विषता वशमुपयास्यति।

यदि राजा या राज्याधिकारी मन्त्ररक्षा मे थोडा-सा भी प्रमाद रखेंगे, कत्तव्य की गोपनीयता को सुरक्षित न रखेंगे तो शत्रुओ के हाथो सारा रहस्य चला जायेगा।

सर्वद्वारेभ्यो मन्त्रो रक्षितव्य।

मन्त्रणा के फूट निकलने के सभी द्वारो को बद कर उसकी रक्षा करना आवश्यक है।

एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र का भेद लेने के लिए नानाविध कुटिल उपायो का प्रयोग करता है। उन सब कुटिल प्रयोगो से अपनी मन्त्रणा की रक्षा करना अत्यन्त गम्भीर कत्तव्य है।

मन्त्रसम्पदा राज्य वर्धते ।

मन्त्र की पूर्ण सुरक्षा तथा उसकी पूर्णांगता ही राज्यश्री की वृद्धि करती है। राजकाज संबंधी आवश्यक मन्त्रणाओं (योजनाओं) के सुरक्षित रहने पर ही राष्ट्र समृद्धिशाली बनता है। अतएव इस ओर पूर्ण सतर्कता आवश्यक है।

इस श्लोक का एक रूप 'मन्त्र सम्पदा हि राज्य विवर्धते' भी है।

श्रेष्ठतमा मन्त्रगुप्तिमाहुः ।

कर्त्तव्य में शक्ति संचार करने वाली वस्तु मन्त्र ही है। राज की सुरक्षा मन्त्र बल से ही होती है। शत्रु को ज्ञान हो जाने से मन्त्र का व्यय हो जाना ही मन्त्र का नाश, शक्ति का नाश है। इस अर्थ में मन्त्र रक्षा ही शक्ति रक्षा है। मन्त्र को सुरक्षित रखना ही शक्तिमान बनना है। ऐसा न होने पर राष्ट्र नष्ट हो जायेगा।

कार्यान्धस्य प्रदीपो मन्त्रः ।

मन्त्र अंधेरे में मार्ग दिखाने वाले दीपक के समान किंकर्त्तव्यविमूढ को भी उसका कर्त्तव्य मार्ग दिखला देता है।

जैसे गृहस्वामी दीपक के बिना रात्रि के अंधकार में अपने ही सुपरिचित घर में अंधा बना रहता है इसी प्रकार मनुष्य मन्त्र (सुविचार) के बिना कर्त्तव्य-पालन में अंधा बना रह जाता है।

इस श्लोक का एक रूप 'कार्याकार्य प्रदीपो मन्त्र' भी है।

मन्त्रचक्षुषा परच्छिद्राण्यवलोकयन्ति ।

शत्रु की निर्बलता का पूरा पता लगा लेने पर ही उस पर विजय पाने की पूरी आशा हो सकती है। राजा के लिए शत्रु की निर्बलता जानने का उपाय कुशल मन्त्रियों के साथ विचार विनिमय करने के अतिरिक्त दूसरा कोई नहीं है। राजा योग्य मन्त्री के बिना राज रक्षा के सम्बन्ध में अंधा बना रहता है।

मन्त्रकाले न मत्सरः कर्तव्यः ।

किसी को दबाकर अपनी बात ऊपर रखने का प्रयत्न न होना चाहिये। अच्छी बात सबकी सुननी चाहिये। मन्त्र के समय शाब्दिक संघर्ष नहीं होना चाहिये। उस समय अपनी बात पर अडने से धैर्यहानि तथा कार्य का व्याघात निश्चित हो जाता है।

त्रयाणामेकवाक्ये सम्प्रत्ययः ।

विचारणीय कर्तव्य के विषय मे ऊपर बतलाये गये तीनों मन्त्रणाकारों का एकमत हो जाना, मन्त्रणा की सफलता है। इससे कार्य सिद्धि अवश्य होती है।

मन्त्रणा ग्रहण करने वाला, मन्त्रणा देने वाला, विश्वस्त हितैषी व्यवहार कुशल मन्त्री इन सबका एकमत होना ही लाभदायक और निश्चित लक्ष्य प्राप्ति का सूचक है।

कार्याकार्यतत्त्वार्थदर्शिनो मन्त्रिणः ।

मन्त्री लोग विद्याओं मे पारगत विशुद्धकुलीन धर्म, अर्थ दोनो मे प्रवीण सरल स्वभाव वाले ब्रह्मवेत्ता होने चाहिये। मन्त्र जब प्रारम्भ मे ही भेद पा जाता है, तब उस पर किसी का वश नही रहता है। इस दृष्टि से मन्त्रों के निर्धारण मे बडी सावधानी की आवश्यकता है। मन्त्र संगोपन की शक्ति ही मन्त्रियो का एकमात्र मूल्य है।

इस श्लोक का एक रूप 'अकामबुद्धयो मन्त्रतत्त्वार्थ दर्शिनोमन्त्रिणः' भी है।

अपना व्यक्तिगत स्वार्थ न चाहने वाले, विवेकी लोग ही मन्त्रणा के उपयुक्त होते हैं।

षट्कर्णाद् भिद्यते मन्त्रः ।

मन्त्र छह कानो मे पडने पर सर्वत्र फैल जाता है, सबको पता चल जाता है। कोई मन्त्रणा राजा तथा मुख्य मन्त्री के अलावा किसी तीसरे व्यक्ति तक

जाते ही उसकी गोपनीयता समाप्त हो जाती है। जब भी कोई मन्त्रणा हो तो उसे केवल दो उत्तरदायी व्यक्तियों तक सीमित रहना चाहिए।

राजा और महामन्त्री अथवा महामन्त्री और विभागीय मुख्याधिकारी, यही दो मिलाकर किसी कार्य की अन्तिम रूपरेखा नियत करें। अपने विभागीय मन्त्रियों से मन्त्रणा कर किसी कर, किसी कर्त्तव्य का निर्णय करना महामन्त्री का काम होने पर भी कार्य का अन्तिम निर्णय राजा और महामन्त्री करें। ये दोनों मन्त्र गोपनीयता के लिये उत्तरदायी हों।

इस श्लोक का एक रूप 'षट्कर्णो मन्त्रश्छिद्यते' भी है।

छह कानों (अर्थात् तीसरे व्यक्ति) के पास जाते ही मन्त्रणा की गोपनीयता समाप्त हो जाया करती है।

आपत्सु स्नेहसंयुक्तं मित्रम्।

जो लोग विपन्न की विपत्ति को अपने ही ऊपर आई विपत्ति मान लेते और आपत्काल में विपद्ग्रस्त का साथ देते हैं, उन्हीं को किसी से मित्रता का संबंध जोडने या किसी को अपना मित्र कहने का अधिकार होता है। इनके अतिरिक्त जो लोग आपत्ति के समय मित्रों को अकेला, विपन्न होने के लिये छोड देते है, वे किसी के मित्र बनने या कहलाने के अधिकारी नहीं होते हैं। आने वाली विपदाएं ही विपन्न को शत्रु-मित्र की पहचान कराती हैं और सच्चे मित्र से मिलाने वाली सच्ची मैत्री बन जाती हैं।

मित्रसंग्रहणे बलं संपद्यते।

सच्चे मित्रों का साथ मिलने से मनुष्य को बल प्राप्त होता है।

सच्चे मित्र मिलने से मिलने वाला बल, स्वामी, अमात्य, राष्ट्र, दुर्ग, कोष, सेना तथा मित्र इन सातों या इनमें से कुछ रूपों में प्राप्त होता है।

इससे पहले सूत्र में सच्चे मित्रों से मिलने वाले सत्य को ही मनुष्य को बलवान् बनाने वाला मित्र बताया गया है। इस सूत्र में उसी का स्पष्टीकरण इस प्रकार किया है कि सत्य को अपनाकर असत्य का विरोध करते हुए विपन्न होने से न डरना, शक्तिमानों का स्वभाव होता है।

बलवानलब्धलाभे प्रयतते।

सत्य के बल से बलवान् व्यक्ति अप्राप्त राज्यैश्वर्य पाने के लिये भी

उचित उद्यम उत्साह तथा अध्यवसाय से युक्त होकर रहे, तब ही उसके बल का यथोचित उपयोग और विकास सम्भव है।

इस श्लोक का एक रूप 'बलवानलब्धताय प्रत्येत्' भी है।

अलब्धलाभो नालसस्य ।

दव यदि आलसी को कुछ द भी दे तो उससे उसके द्रव्य की रक्षा भी नहीं होती।

मनुष्य मे सत्यनिष्ठा न होना ही आलस्य है। सत्यहीन व्यक्ति न करने योग्य काम करता है तथा करन योग्य सत्यानुमोदित प्रयत्नो मे आलस्य करता है। अकत्तव्य अर्थात न करन योग्य काम करना तथा कत्तव्यो अर्थात करने योग्य कामो से बचते रहना ही आलस्य है।

आलस्य मनुष्य के ही शरीर में रहने वाला मनुष्य का घरेलू महा-शत्रु है।

अलसस्य लब्धमपि रक्षितु न शक्यते ।

आलसी मन्दबुद्धि, सुखासक्त, रोगी, निद्रालु तथा कामुक, ये छह लाग निन्दित माने गये हैं। उद्यम, उत्साह तथा अध्यवसाय ही पुरुष के आलस्य का विरोध करते और उसे कम मे प्रवृत्त रखते हैं। इसलिय सजग उत्साही लोग सदा उद्यम उत्साह तथा अध्यवसाय से सम्पन्न रहें।

न चालसस्य रक्षितु विवर्धते ।

राज्यैश्वर्य वद्धि न होना ही अनिवाय विनाश है। आलस्य देहस्थ अन्तर्धान है, इसलिये मानव आलस्य रूपी दोप का सदा त्याग करता रहे। सूत्र कहना चाहता है कि अनलस ही लब्ध की रक्षा कर पाता है, और इस कारण वृद्धि अवश्य होती है।

इस श्लाक का एक रूप 'न चलास्ययुक्तस्यरक्षित विवर्धते' भी है।

न भृत्यान् प्रेषयति ।

राज या राज्याधिकारीगण जब स्वय आलस्यवश कार्य न कर अपने

नौकरों से काम लेते हैं, तो फिर सर्वनाश का श्रीगणेश होने लगता है। यह एक भयंकर अपराध है। ऐसे लोगो के कारण तब राज्य व्यवस्था भंग होने लगती है। यह पंगु बन जाया करती है।

इस श्लोक का एक रूप 'न भृतायन प्रथयति' भी है।

कुछ पुस्तको मे यह सूत्र भी है—

न तीर्थं प्रतिपादयति

विद्या अनुभव और धर्म के केन्द्र तथा धर्मज्ञानसंपन्न लोग ही 'तीर्थ' कहलाते हैं। आलसी राजा स्वभाव से मूर्ख तथा अवगुणी होने के कारण धर्म, विद्या तथा अनुभवों के केन्द्र गुणी पुरुषो, उनके गुणो, धर्म विद्या आदि की संरक्षक तथा प्रचारक संस्थाओं को सुरक्षित न कर वरन् उपेक्षा कर, समाज से धर्म और ज्ञान को विलुप्त कर अज्ञान तथा अनीति का प्रसारक बन जाता है। महामन्त्री, मुख्य न्यायाधीश, सेनापति, राजश्रेष्ठी, ज्योतिर्विद, राज्य का सबसे प्रभावशाली व्यक्ति समाजों के मुखिया, समस्त प्रकार की सेनाओ के मुख्यपुरुष, पुरोहित, मन्त्री आदि राजाओ के तीर्थ माने गये हैं।

अलब्धलाभादिचतुष्टयं राज्यतन्त्रम् ।

अलब्ध का लाभ लब्ध की रक्षा, रक्षित का वर्धन, राजकर्मचारियो की उचित नियुक्ति, राजकाज मे विनियोग और व्यय यह चार बातें राज्य तन्त्र के लिये आवश्यक हैं।

राज्य इन्हीं चार बातों पर निर्भर होते हैं। राज्य की यही चार मुख्य समस्यायें होती हैं। राज अधिकारी लोग न तो अर्थवृद्धि मे प्रमाद करें, न राजश्री का असद्व्यय करें और न उसे अनुपयोग से नष्ट होने दें। श्री की दान भोग तथा नाश से चौथी गति नहीं है। राजा लोग सामादि उपायों से, फूल में से अति क्षुद्र मात्रा मे रस लेते फिर मधुकरी के समान सुसह्य उपायों से प्रजा से धनसंग्रह करें।

राज्यतन्त्रायत्तं नीतिशास्त्रम् ।

राष्ट्र तब ही नीतिपरायण रह सकता है, जब उसका राजतन्त्र नीति-

युक्त हो। यदि राजतन्त्र मे नीति का प्रयोग न हो तो लोक में नीति नाम की कोई वस्तु नही रहती। राजतन्त्र का अर्थ समाज की नीतिमत्ता है। राजतन्त्र से बाहर नीति नाम की कोई वस्तु नही रहती। नीति राज-तन्त्र मे सीमित और राजतन्त्र से ही सुरक्षित रहती है। राजतन्त्र मनुष्य समाज के साथ-साथ चलता है। राजतन्त्रहीन समाज मनुष्य समाज नही होता है। राजतन्त्र का न मानने या भग करने वाला, नीतिहीन कहलाता है। समाज से बाहर चल जाना या समाज को अस्वीकार कर देना ही नीतिहीनता है। राजतन्त्र ने ही नीति को जन्म दिया है। पहले समाज बना। पीछे नीति बनी। समाज और राज मे कोई भी भेद नहीं है। नीति ने समाज नही बनाया, पर समाज अर्थात राजतन्त्र ने ही नीति बनायी है। मनुष्यों का शान्ति के बंधन म रहना ही 'समाज' है। समाजबद्ध रहना मनुष्य की सामाजिक स्थिति है। अपने इस स्वभाव से समाजबद्ध होकर समाजसगठन को सुरक्षित रखने शान्ति का राज सुप्रतिष्ठित रखने की आवश्यकता न ही नीति को जन्म दिया है। समाजबद्ध तो पशु भी रहता है, पर पशुओं मे नीति नाम की वस्तु नहीं होती है। नीतिमत्ता मानव समाज की ही विशेषता है। राजव्यवस्था नीतिसम्पन्न हो तो समाज मे नीति को जन्म देने तथा फलने फूलने का अवसर मिल जाता है। राज्य-मस्था के नीतिसपन्न होने पर ही देश में नीति कायम रहती है।

राज्यतन्त्रेष्वायत्तौ तन्त्रावापौ।

स्वराष्ट्र सबधी, परराष्ट्र सबन्धी कर्त्तव्य अपनी राष्ट्र व्यवस्था के अग होते हैं। परराष्ट्र नीति के बिना राजतन्त्र अधूरा है। परराष्ट्र नीति का सुदृढ होना अत्यावश्यक है। इसके बिना कोई भी राष्ट्र सुदृढ नहीं रह सकता है।

इस श्लोक का एक रूप 'राजतन्त्रेष्वायत्तौ मन्त्रावापौ' भी है।

अपने आप सुव्यवस्थित रहता है। इसका उल्लंघन करने से राष्ट्र में अव्यवस्था उत्पन्न होती है।

इस श्लोक का एक रूप 'मन्त्रम स्वविषय कृत्येष्वायत्तम्' भी है।

आवापो मन्डलनिविष्ट ।

शत्रुओं के कार्यों या उनकी गतिविधियो की देखभाल, उन पर बराबर रखने वाला तन्त्र ही सफलता के साथ राज बनाये रखता है। पडोसी राष्ट्रो की गतिविधियों पर नजर रखना आवश्यक तन्त्र है।

इस श्लोक का एक रूप 'आवापो मडले सन्निविष्ट' भी है।

सन्धिविग्रहयोनिम ण्डल ।

पडोसी राष्ट्रों से सधि और विग्रह (मत्री, शत्रुता) तो चलते ही रहते हैं।

सन्धि विग्रहों का व्यवहार पडोसी राष्ट्रों के ही साथ होता है। सन्धि विग्रह के क्षेत्र राष्ट्र मण्डल कहलाते हैं। सन्धि का अर्थ सन्धान तथा विग्रह का अर्थ विरुद्ध कम कर या विरोधी कर्म अपनाना है। धनदानादि-उपायो के द्वारा प्रेम का सम्बन्ध जोडना या मित्र बनाना सन्धि कही जाती है। राजा लोग कुछ पदार्थ ले देकर आपस मे प्रतिज्ञाबद्ध होते हैं। इसी को पण भी कहते हैं। पण से होने वाली सन्धि पणबद्ध कहाती है। सोमदेव के शब्दों मे 'पणबन्ध सन्धि, अपराधो विग्रह'। जब कोई किसी राजा का अपराध करता है तब ही विग्रह खडा होता है। दूसरे राष्ट्र मे दाह लूट मार आदि भी विद्रोह के ही रूप हैं। सन्धि और विग्रहों के बहुत स रूप हैं। प्रकटविग्रह कूटविग्रह मौनविग्रह भेद से विग्रह के भी तीन भेद बताये जाते हैं। कोई दुर्बल राजा बली राज को पणदान से जब तक के लिए सन्तुष्ट करता है, तब तक उन दोनों की सन्धि रहती है। पडोसी राष्ट्र के साथ समय की आवश्यकता तथा पडोसी राष्ट्रो-के बर्ताव के अनुसार सन्धि विग्रह करते रहना, राजव्यवस्था का राष्ट्रीय कर्त्तव्य होता है। किसी से न तो सदा सन्धि रह सकती है और न सदा किसी से विग्रह ही रहता है। किस समय, कौन-सी नीति की आवश्यकता है, यह देखते

रहना ही नीतिमत्ता कही गयी है।

इस श्लोक का एक रूप 'सधिविग्रहयोर्योनिमडलम्' भी है।

नीतिशास्त्रानुगो राजा।

नीतिमत्ता का अनुगमन करना ही राजा की योग्यता है।

हेतुशास्त्र, दण्डनीति तथा अर्थशास्त्र नीतिमत्ता के अन्तर्गत आते हैं। शासन व्यवस्था से सम्बन्ध रखने वालों को इन सब राजशास्त्रों का सूक्ष्म ज्ञान होना चाहिये। यदि राज अधिकारी लोग राजशास्त्र से अपरिचित रहकर तथा अपने कृत्यो पर कोई सामाजिक नियन्त्रण न रख स्वेच्छा-चारिता से राज करेंगे तो प्रबल अनिष्ट होने सुनिश्चित हैं। राजा को नीतिप्रोक्त नियमो के अनुसार ही आत्मरक्षा तथा प्रजा का पालन करना चाहिये।

अनन्तरप्रकृति शत्रु।

जिनसे हर घडी सीमा सघर्ष आदि कलह होने की सभावना बनी रहती है, वह परस्पर शत्रु बन जाते हैं। राज अधिकारी लोग निकटवर्ती राज्यो से सदा सतर्क रहें और उनकी विरोधी गतिविधि देखते रहे।

अहिताचरण करने वालों को सगठित करने वाला स्वाभाविक बन्धन है। इस मधुर बन्धन मे आबद्ध न रहकर दूसरे का सुख छीनने तथा दुख पहुचाने की स्वार्थी प्रवृत्ति रखने वाले लोग पारस्परिक शत्रु बन जाते हैं।

एकान्तरित मित्रमिष्यते।

किसी राष्ट्र से शत्रुता रखने वाले राष्ट्र परस्पर मित्र बन जाया करते हैं। यह राष्ट्र नायको का निश्चित स्वभाव माना गया है।

हेतुत शत्रुमित्रे भविष्यत

शत्रु, मित्र अकारण न होकर कारणवश हुआ करते हैं।

सदाचरण या उपकार से मित्र, तथा असदाचरण या अनुपकार से शत्रु बन जाया करते हैं। नित्यमित्र, सहजमित्र तथा कृत्रिममित्र तीन

प्रकार के मित्र होते हैं। अकारण पाल्यपालक बन जाने वाले नित्यमित्र, कुल परम्परा से चले आने वाले मित्र सहजमित्र तथा प्रयोजन से स्नेह करने वाले कृत्रिममित्र कह गये हैं।

हीयमान सन्धि कुर्वीत।

नीतिवान पर निर्बल राजा का कर्त्तव्य है कि वह अपने से अधिक शक्तिशाली सज्जन राष्ट्र के साथ सन्धि कर अपनी आत्मरक्षा करे। वह अपनी दुर्बल अवस्था का शत्रु को पता चलने से पहले ही अपनी ओर से सन्धि का प्रस्ताव रख आत्मरक्षा का प्रबन्ध करे। वह युद्ध स्थगित करने के अवसर का अपनी शक्तिवृद्धि मे उपयोग करे। नीतिमान राजा के लिये ये दोनो ही बातें अभीष्ट नही हैं कि वह सन्धि के द्वारा अपने से बलवान अधार्मिक शत्रु के हाथो मे आत्मविक्रय करे या पराजय निश्चित होने पर उससे संग्राम कर मिट जाय। ऐसे समय नीतिमान् राजा का कर्त्तव्य है कि शत्रु से सामयिक सन्धि के सहारे आत्म-रक्षा करके शक्तिसंचय करने मे लगा रहे। यही उसकी सन्धि का उद्देश्य रहना चाहिये।

कुछ पुस्तकों मे यह अधिक सूत्र भी है।

हीयकानेन न संधि कुर्वीत।

नीतिमान बलवान् राजा के लिये यह कदापि उचित नहीं है कि वह अधार्मिक निर्बल शत्रु को संग्राम-भूमि मे अवसर पाकर भी उसे न मिटा, उसकी मीठी बातो के चक्कर मे आ उससे संधि कर भविष्य में उसे शक्तिमान् बन शत्रुता करते रहने के लिये जीवित रहने दे। शत्रु को उसकी प्रस्तावित सन्धि से जीवित रहने का अवसर देना राजनैतिक मौतरूपी भूल है।

तेजोहि सन्धानहेतुस्तदर्थानाम्।

जब कोई दूसरे पक्ष मे अधिक तेज देखे और सन्धि करना आवश्यक माने तब अपने सम्मान को सुरक्षित रखकर हीयमान होते हुए भी शत्रु को अपनी हीयमानता न दिखाकर बन्दरघुडकी दिखाते हुए ही उससे

सधि करे। सधि करने मे अपने सम्मान और अस्तित्व को सुरक्षित रखना अपना विशेष कर्तव्य माने।

* इस श्लोक का एक रूप' तेजोहि सधानहेतुदस्तदर्थिनाम्' भी है।

नातप्तलोहो लोहेन सधीयते।

जिस प्रकार बिना तपे की बिना तपे लोहे से सधि नही होती है, उसी प्रकार जब तक दोनों म समान शक्ति न हो तो, सम्मानपूर्वक सधि नही हो सकती है।

यह तो ठीक है कि दोनों मे से एक के प्रताप का अधिक होना अनिवार्य है तो भी उनमे सधि होना तब ही सभव होगा, जब हीयमान राजा अपन पौरुष ढीले न छोड चुका होगा। यदि वह पौरुष ढीले छोड देगा तो अपना स्वतन्त्र अस्तित्व ही खो बैठेगा। सधि तब ही हो सकेगी, जब निस्तेज राजा भी शत्रु से सधि प्रस्ताव मे अपनी तेजस्विता को अक्षुण्ण बनाये रखकर शत्रु पक्ष पर सधि का दबाव डाल रहा होगा।

इस श्लोक का एक रूप 'नातप्तलोह लोहन सधत्ते' भी है।

बलवान् हीनेन विगृह्णीयात्।

बलवान राजा शत्रु को अपने से दुबल देखने पर ही आक्रमण करे।

सुनिश्चत विजय होने पर ही युद्ध करना चाहिये। आशय यह है कि शत्रुता सदा अपने से निबल के साथ ही ठानना चाहिये। प्रौढ दुष्ट स तत्काल युद्ध न कर उसे अचिर भविष्य मे हरा देने योग्य बलवान बनने के लिये जागरूक होकर रहना चाहिये और युद्ध को टालते रहना चाहिये

इस श्लोक का एक रूप' बलवान हीनेन विगृह्णयात् भी है।

न ज्यायसा समेनया।

समान शक्तिशाली राजा के साथ कभी युद्ध न करे।

जिसके पास विक्रम, बल तथा उत्साह नामक तीन शक्ति अधिक समान हैं, उससे युद्ध का अर्थ स्वनाश ही होता है।

ऐसे अवसर पर तात्कालिक युद्ध को स्थगित रख स्वय को शत्रु से

अधिक शक्तिशाली बनने तथा शत्रु का बलहीन 'बनाने के लिय जितना समय आवश्यक हो, उतना कर शत्रुदमन का प्रबन्ध करे। युद्ध के बिना शत्रुदमन का काई उपाय सभव नही है। इसलिय युद्ध को अनिवाय मानकर सग्राम के लिये सदा सन्नद्ध रहना ही राजनीति है।

गजपादयुद्धमिव बलवद्विग्रह ।

गजारुढ सैनिकों के सम्मुख पदाति सेना की जो गति होती है, वही गति बलवान् शत्रु के सम्मुख निर्बल की हो जाती है। इस दृष्टि से आततायी का दमन करने के लिये अधिक शक्तिशाली होना आवश्यक है।

इस श्लोक का एक रूप 'हस्तिन पादयुद्धमिव बलवान बुद्धिग्रह' भी है।

आमपात्रमामेन सह विनश्यति ।

जिस प्रकार कच्चा पात्र कच्चे पात्र से टकराने पर स्वय टूट जाया करते है, उसी प्रकार समान शक्ति वाले राजा भी स्वय युद्ध कर नष्ट हो हैं। अतएव युद्ध मे विजयी वही होगा, जो अधिक शक्तिशाली होगा। युद्ध करने से पूव इस पर विचार करना आवश्यक है।

इस श्लोक का एक रूप 'आमपात्र मामेन सह विनश्यति' भी है।

अरिप्रयत्नमभिसमीक्षेत ।

शत्रुओं की प्रत्येक चेष्टा, उद्यम राज्यलाभ, परराष्ट्र सधियो आदि गोपनीय बातो की गुप्तचरो द्वारा प्राप्त जानकारी के अनुसार काय करना चाहिए। शत्रु राजा की सासो तक का ज्ञान रखना आवश्यक है।

इस श्लोक का एक रूप' अरिप्रयत्नमभिमीक्ष्यात्मरक्षयावसेत्' भी है।

सन्धायैकतो वा ।

सधि का मैत्री पूण सबध हो अथवा मनोमालिन्य हो तो भी पडासी राष्ट्र के प्रत्येक कार्य पर सूक्ष्म निगरानी रखना आवश्यक है तभी कोई राज्य अपना व्यक्तित्व बनाकर रख सकता है।

अमित्रविरोधादात्मरक्षामावसेत्।

राजा के लिये आवश्यक है कि वह अपने राज्य मे शत्रु या मित्र राष्ट्र की गुप्तचरो के द्वारा की जाने वाली लूटपाट, तोड-फोड फूट जनमत विद्रोह आतंकवाद आदि कारवाइयो पर कडी निगाह रखे। उसके राज्य मे बाह्यशक्तिया अशान्ति उत्पन्न करती रह सकती हैं।

शक्तिहीनो बलवन्तमाश्रयेत्।

राष्ट्र, सेना, दुर्ग तथा कोषरूपी शक्तियो से असमृद्ध राजा इन सब शक्तियो से सम्पन्न किसी प्रतापी धार्मिक राजा के साथ मित्रता कर उसके सहयोग से शत्रुदमनकारिणी विशाल शक्ति की सृष्टि कर और उसकी स्वतन्त्रता की रक्षा करे।

दुर्बलाश्रयो दु खमावहति।

अपनी शक्ति मे विश्वास न रखने वाले, दुर्बल, अपने ही राज्य मे अशांति का दमन न कर सकने वाले कापुरुष राजा के साथ संधि समझौता करना या उसे सहयोग देना विपत्ति बुलाना है। भौतिक शक्तिहीन दो दुर्बलो के सच्चे मिलन से नवीन महाशक्ति का जन्म होता है। इसलिये इस सूत्र मे दुर्बल शब्द का 'अपनी शक्ति पर भरोसा न करने वाला" कापुरुष" अर्थ किया है। इस सूत्र के दुर्बल शब्द का यह अर्थ मान्य नही है कि मानसिक शक्तिसंपन्न कुछ दुर्बल राष्ट्र संगठित होकर शक्तिमान् नही बन सकते ?

इस श्लोक का एक रूप 'दुर्बलाश्रयो हि दु खमावहति' भी है।

अग्निवद्राजानमाश्रयेत्।

किसी राजा से संबध जोडने से पहले सावधानी-पूर्वक देख ले, समानता पर है या नहीं, अग्नि से जल जाने का खतरा तो नहीं है। सावधान रहकर संबध बनाये।

उसे अपनी हानि करने का अवसर न दे। उससे इतना न चिपट जाय कि वह चाहे जब गला घोट दें। जैसे आग मे स्वयं जल मरना आग का

दुरुपयोग है, वैसे ही आग की दाहिका शक्ति को आत्मरक्षा का साधन बना लेना उसका सदुपयोग है, इसी प्रकार विद्वान मनुष्य अशान्तिकारक शत्रु का दमन करने के लिये किसी का आश्रय करे। वह किसी का आश्रय लेकर अपनी शान्ति तथा स्वतन्त्रता न खो बैठे। जब बली राजा का आश्रय लिये बिना जीवन धारण असम्भव हो जाय, जब बलहीन राजा राजलक्षणों से सम्पन्न किसी धार्मिक तेजस्वी राजा के साथ मित्रता का सम्बन्ध जोड़े और एक सम्मिलित-वर्धित शक्ति से शक्तिमान् बने।

राज्ञ प्रतिकूलं नाचरेत्।

राजद्रोह नहीं करना चाहिए। सत्तारूढ़ राजा का द्रोह राष्ट्रद्रोह है।

प्रजा की निर्विघ्न जीवन यात्रा के लिये राज्य संस्था का होना अनिवार्य रूप से आवश्यक है, इसलिये विवेकी लोग राज संस्था के सहायक बन कर रहें और उसका द्रोह न करें। जहां तक और जब तक सम्भव हो राजा को नीतिपरायण रखने के प्रयत्नों को तो चालू रखें, पर उसका द्रोह करने पर न उतरें। राज्य संस्था को सुधारकर रखना कर्तव्य होने पर भी अराजकता फैलाना प्रजा के लिये कल्याणकारी नहीं है।

उद्धतवेषधरो न भवेत्।

जिस वेश को देखकर लोगों के मन में घृणा कटुता उत्पन्न हो, वह वेश धारण न करें।

मनुष्य समाजानुमोदित सभ्य वेश धारण करें। साधारण रहन-सहन सार्वजनिक उत्सव तथा राजसभा आदि सब ही इस सूत्र के व्यवहारक्षेत्र हैं। मनुष्य सभ्यसमाजानुमोदित वेश भूषा पहन कर ही व्यवहार करे। उसे कहीं भी स्वेच्छाचारी वेश-भूषा या अपनी शृंगारप्रियता का प्रदर्शन नहीं करना चाहिए। चाहे जितना समृद्ध होने पर भी मनुष्य की वेश भूषा राष्ट्र की सार्वजनिक वेश-भूषा की प्रतीक होनी चाहिये।

इस श्लोक का रूप 'नोद्धत वेषधर स्यात्' भी है।

न देवचरितं चरेत्।

मनुष्य राजचरित्र का अनुकरण न करे। मनुष्य अपने धनमद में आकर

मुकुट, छत्र, चामर, ध्वज, विशेष वाहन आदि राजचिन्हो का अनुकरण न करे। समाज मे व्यक्तिगत महत्वाकाक्षामूलक यशालिप्सा किसी साम्प्रदायिक या जातिगत स्वार्थी दल का नेतृत्व प्रभुता आदि राष्ट्र सेवा विरोधी प्रदर्शनो मे समाज की भावना को भडकाने का काय न करे।

द्वयोरपीष्यतोर्द्वैधीभाव कुर्वीत।

अपने राज्यैश्वय से ईर्ष्या करने वाले, विरोध के लिए सम्मिलित होने वाले माण्डलिक राजाओं या दो व्यक्तियो तक मे अपने कूट प्रयोगो से पारस्परिक द्वेष पैदा कर, उन ईर्ष्यालुओ की महत्वाकाक्षा को पददलित कर उनके अस्तित्व को विलुप्त कर डालना चाहिए। राज्य विरोधी बडे सगठनो के सम्बन्ध मे सतर्कता का कहना ही क्या है। राज्यविरोधी दल बनाकर सगठित होने का अवसर न मिलने दें।

राज्यव्यवस्था का यह प्रथम परम कर्तव्य है। इस पर ध्यान न देने से राजसत्ता सकट मे पड सकती है। शत्रु भी इस प्रकार के काय प्रजा को भडकाकर करा सकता है। अतएव सावधान रहे।

न व्यसनपरस्य कार्यावाप्ति ।

व्यसन आसक्ति के कारण काय सफल नही हो पाते हैं।

व्यसनासक्त का कम फलदायी नही होता है, क्योकि व्यसनासक्त का कम उत्साह, दृढता, सकल्प तथा आत्म विश्वास से हीन होता है इसलिये उसके लिये किये कम निष्प्राण होते हैं। उसका मन व्यसनासक्त होने से सब समय कर्तव्यबुद्धि से भ्रष्ट बनकर रह जाता है।

इन्द्रियवशवर्ती चतुरगवानपि विनश्यति।

इन्द्रियों के इशारे पर चलने वाला राजा सब प्रकार से शक्तिशाली होने पर भी (सेनाओ की शक्ति के बावजूद) नष्ट हो जाता है। इन्द्रियआसक्त की बुद्धि कुठित हो जाती है। महत्वपूर्ण काय कर ही नही सकता है।

इस श्लोक का एक रूप "इन्द्रियवश वर्तिनो नास्ति कार्यावाप्ति" भी है।

जिसकी अपनी इंद्रियां भी अपने वश में नहीं हैं, जो अपनी इंद्रियों तक पर अपना शासन स्थापित करने में असफल है, निश्चय है कि वह अपनी चतुरंग सेना को भी कर्तव्यनिष्ठ न रख, उसे भी अपनी इंद्रियों के समान ही कर्तव्यभ्रष्ट बनाये रखेगा। उसके असंयत मन का कुप्रभाव सेना पर भी पड़ेगा। उसे भी असंयत कर्तव्यहीन उत्तरदायित्व-हीन निकम्मा बना डालेगा। जैसे इंद्रियासक्त का मन, काम, क्रोधादि रिपुओं के आक्रमण से पतित हो जाता है, इसी प्रकार उसके राज्याधिकार पर आक्रमण करने वाले शत्रु के आक्रमण के अवसर पर सेना का भी निकम्मापन उसके पतन का कारण बने बिना नहीं रहता है।

नास्ति कार्यं द्यूतप्रवृत्तस्य।

जुआ खेलने वाले (द्यूतासक्त) कर्तव्यहीन होते हैं। ऐसे लोग राजा को या राज्य कर्मचारी राज्य का विनाश कर डालते हैं।

इस श्लोक का एक रूप 'नास्ति कार्यद्रुतप्रवृत्तस्य' भी है।

अविचार और अधैर्य से शीघ्रता में आकर काम प्रारंभ कर देने वाले के काम सिद्ध नहीं हो पाते हैं।

मनुष्य सहसा कोई भी कार्य न करे। अविवेक परम आपत्तियों का घर बन जाता है। संपत्तियों को भी गुणों का लोभ होता है। गुणों का लोभ रखने वाली संपत्तियां विचारकर काम करने वालों को अपने आप आकर वरती हैं।

मृगयापरस्य धर्मार्थौ विनश्यतः।

आखेट (शिकार) प्रेमी के धर्म और अर्थ दोनों नष्ट हो जाया करते हैं। अतएव इस ओर मनुष्य को प्रवृत्त नहीं होना चाहिए।

अर्थेषणा न व्यसनेषु गण्यते।

जीवन साधनों का संग्रह व्यसनों से नहीं गिना जाता है। अतएव प्रत्येक व्यक्ति को जीवन-साधन संग्रह करने का अधिकार है।

कुछ पुस्तकों में यह अधिक सूत्र भी है।

अर्थेषुपान व्यसनी न गण्यते

मदिरासक्त (शराबी, मद्यप्रेमी) पर महत्वपूर्ण कार्य कभी नहीं

सौंपना चाहिए। ऐसे व्यक्ति किसी भी क्षण अयोग्य हो सकते हैं।

न कामासक्तस्य कार्यानुष्ठानम् ।

कामासक्त, चरित्रहीन व्यक्ति किसी भी काय को (पूरी निष्ठा के साथ) कभी नही कर सकता है। कामी व्यक्ति सूक्ष्म कार्यों पर ध्यान नहीं द सकता। उनको राजकाज का कोई भी कार्य सौंपना संकट को आमत्रण दना है।

यद्यपि ऊपर से देखने मे भोगवादी बडा मीठा और कत्तव्यपरायण लगता है, पर इस धोखे में रहकर अहित की पूण सम्भावना है।

अग्निदाहादपि विशिष्ट वाक्पारुष्यम् ।

कठार ककश अश्लील वाणी बोलना भी एक महादुर्व्यसन है। मन मे क्रोध के उदय होने पर वाणी मे कर्कशता आ जाती है। ममभेदी-पुरुष कर्कश अश्लील वाणी दुष्ट मन से ही निकलती है। उससे श्रोता के मन मे क्रोध बढकर भावी विवाद के बीज बो दिये जाते हैं। शस्त्र का घाव तो भर जाता है परन्तु वाणी का घाव जीवन भर नही भर पाता। अश्लील वाणी की पैदा की हुई शत्रुता जीवन भर नही मिटती है।

इस श्लोक का एक रूप 'अग्निदाद्यदपि दिशेष्ये वाक्याकष्यम्' भी है।

अश्लील ककश वाणी से घायल मनुष्य अग्निदाह से भी अधिक पीडा पाता है।

दण्डपारुष्यात् सवजनद्वेष्यो भवति ।

दण्डाधिकारी को दण्ड मे कठोर न होना चाहिए। राज्यप्रजा की शुभेच्छाओ पर ही टिका रहता है। इसलिये राजसस्था मे काम करने वाले लोग सदा प्रजा का हार्दिक अनुमोदन पाते रहन तथा क्षोभ उत्प न न होने देने वाली नीति अपनायें। प्रकृति का क्षोभ अशान्ति तथा राष्ट्रविनाश का कारण बन जाता है। कठोर दड से कौन-सी बात किमको कितनी चुभ जाय और क्षुब्ध प्रकृति से कब कौन क्या कर बैठे, इसकी कोई निश्चि त

कल्पना नही की जा सकती है। लोगो मे अनन्त प्रकार की शक्तिया और प्रवृत्तिया सोयी पडी रहती हैं। राजसस्था के कार्यकर्ताओ को अपनी भूवा से जनता म राज-विरोधी प्रवृत्तिया न जागन दने की सावधानिक रखन के लिये अपनी उत्तेजक उच्छृखल दण्डप्रवत्तियो पर पूण नियत्रण रखना चाहिये तथा अत्यन्त सावधानी से दण्ड म औचित्य का सुगभीर निणय करना चाहिए।

अथतोपिण श्री परित्यजति।

राजकोप के असली स्वामी अगणित प्रजा का प्रतिनिधित्व करन वाले राजा के लिए अपने को ही राजकोप का स्वामी समझना तथा समझकर पर्याप्त मान बैठना भ्रान्ति है।

राजकोप का सदुपयोग ही उसकी वृद्धि का अनिवाय कारण होता है। राष्ट्रीय धन को राष्ट्र की आवश्यकताओ पर व्यय न कर उसे कोप म दबा बैठना चाहने वाले कृपण राजा के धनागम के समस्त माग अनिवाय रूप से अवरुद्ध हो जाते हैं। परिणामत राज श्रीहीन हो जाता है।

इस श्लोक का एक रूप 'अयदूपक श्री परित्यजति' भी है।

कुत्सित उपायो से आन वाला धन अच्छा लगता है। वास्तव म वह तो घर के धन को नष्ट करन वाला होता है।

अमित्रो दण्डनीत्यामायत्त।

यदि तुम्हारी दड नीति ढीली होगी, यदि तुम राष्ट्रीय अपराध करन वाले शत्रुओ के अपराधो की उपेक्षा कर रहे होगे, तो तुम्हारे शत्रु प्रबल हो जायग और उन्हें तुम्हारे विरुद्ध खुलकर खेलने का अवसर मिल जायगा। इस अवस्था म तुम अपन ही राष्ट्र में अपने शत्रु बढा रह होगे। यदि तुम दण्ड नीति के के दमनकारी उचित उपायो को नहीं जानोगे और पूण सतक होकर उन्हे निरन्तर काम म नहीं लाओग तो तुम्हारे शत्रुओ का बलवान् हो जाना अनिवाय हो जायेगा। जब तक तुम्हारा सतक जागरूक दण्ड राष्ट्र सेवा की भावना स प्रेरित होकर दण्डनीय लोगो के पास अनिवाय रूप से पहुचता रहगा और उनके पापी सिर पर चढकर बैठा रहगा तब ही

तुम निर्विघ्न निष्कण्टक राज-सुख भोग सकोगे। राज की रश्मि पकड़ने वाले लोगों को दण्डनीति का ज्ञान तथा उसे प्रयोग में लाने के ढंगों का पूरा परिचय अनिवार्य रूप से होना चाहिये।

दण्डनीतिमधितिष्ठन् प्रजा संरक्षित।

राजा प्रजा के कल्याण की दृष्टि से दण्डनीति का प्रमादशून्य सावदिक सावधिक प्रयोग करता रहकर ही प्रजापालन कर सकता है और अपने स्वामित्व को अटल रख सकता है। दण्डनीति ही राजा का अस्तित्व बनाये रखने वाला एक मात्र साधन है। दण्डनीति में तिल बराबर भी प्रमाद हो जाने से राजश्री पर घातक प्रहार होने लगते हैं। उसका अनिवार्य परिणाम राज का नष्ट भ्रष्ट हो जाना होता है। दण्डनीति ही राज के शत्रुओं को दमन करने वाला एक मात्र साधन है।

किसी भी दण्डनीय व्यक्ति की मिथ्या विनय से प्रभावित होकर राष्ट्रीय अपराधियों को भूलकर भी क्षमा न करना चाहिये और निरपराध को दण्डित कर प्रजा में क्षोभ उत्पन्न नहीं होने देना चाहिये। दण्डनीयों को दण्ड मिलने की अचूक व्यवस्था रहनी ही चाहिये। पापी को क्षमा तथा निरपराध को दण्ड दिये जाने से देश में पाप की वृद्धि, उसे प्रोत्साहन तथा राज में शत्रुवृद्धि होती है। राजव्यवस्था की इस भूल से देश की राज-शक्ति का दण्डनीय आततायी लोगों के हाथों में फंस जाना अनिवार्य होता है और प्रजा में हाहाकार मच जाता है। उसका अन्तिम परिणाम राष्ट्र-विप्लव होता है। तब आततायियों को शान्तिप्रिय जनता का आखेट करने का अवसर मिल जाता है रक्त की नदियाँ बह निकलती हैं और स्त्री बाल-हत्या, व्यभिचार, लूट-पाट, हत्याकांड आदि अत्याचार बिना रोक टोक होने लगते हैं।

इस श्लोक का एक रूप 'दण्डनीतिमनुतिष्ठन् प्रजा संरक्षति' भी उल्लिखित है।

दण्ड सम्पदा योजयति।

दण्ड ही राजा या राज को समस्त संपत्तियों से युक्त बनाता है। दण्ड

न्याय का पर्यायवाची है। दण्ड ही न्याय है। प्रजा दण्ड से ही वश में रहती है। राज में दण्डव्यवस्था न रहने से क्रय, विक्रय, खान आकर, आयकर, नटकर, ऋणदान, ऋणादान, न्यायान्याय, घट्ट, हाट आदि आय के समस्त मार्ग रुक जाते हैं। बड़े लोग छोटों को लूटकर खाने लगते हैं। तब देश में उपद्रव खड़े हो जाते हैं। यही राजनाश या सम्पत्तिनाश की स्थिति बन जाती है। उचित दण्डव्यवस्था ही राष्ट्र को विनाश से बचाती और राज तथा राष्ट्र दोनों को सम्पन्न बनाये रखती है।

इस श्लोक का एक रूप 'दण्ड सर्वसम्पदा योजयति' भी है।

दण्डाभावे मन्त्रिवर्गाभाव

देश विदेश सम्बन्धी दण्डनीति के सदुपयोग के लिये श्रेष्ठ विचक्षण मन्त्रियों की आवश्यकता होती है। दण्ड की उपेक्षा करने वाले को सुमन्त्रियों के स्थान पर दुर्मन्त्रियों की भीड़ घेर लेती है और तब राजा की स्वेच्छाचारिता बढ़कर राज को निर्मूल कर डालती है।

इस श्लोक का एक रूप 'दण्डाभावे त्रिवर्गाभाव' भी है।

राष्ट्र में दण्डव्यवस्था का स्थान न रहने पर धर्म, अर्थ, काम (त्रिभाव) नष्ट हो जाते है। दुष्ट प्रबल हो जाते हैं और देश में हाहाकार उत्पन्न होता है।

न दण्डादकार्याणि कुर्वन्ति।

अपराधशील लोग निग्रह ताडन, वध तथा अर्थदण्ड के भय से विधान-विरोधी नीतिहीन कार्यों से निवृत्त रहने लगते हैं। पापशीलों का दण्ड भय से पाप से निवृत्त रहना ही धर्म का शासन कहलाता है क्योंकि धर्म ही अर्थ और काम की रक्षा करता है इसलिये धर्म को ही त्रिवर्ग कहा गया है।

इस श्लोक का एक रूप 'दण्डभयादकार्याणि न कुर्वन्ति' भी है।

दण्डनीत्यामायत्त मात्मरक्षणम्।

दण्डनीति को ठीक रखने पर ही आत्मरक्षा हो सकती है। जिसकी दण्ड

नीति अभ्रान्त होती है, उसी की आत्मरक्षा सुनिश्चित होती है। राजा का कल्याण केवल इसी बात पर निर्भर करता है कि उसकी दण्डयाजक नीति क्या है ? कैसी है ? प्रजा का कल्याण राजा का आत्मकल्याण तथा प्रजा की रक्षा ही उसकी आत्मरक्षा है। प्रजा के कल्याण से अलग राजा का कल्याण या उसकी रक्षा से अलग उसकी रक्षा नाम की कोई वस्तु नहीं है। प्रजा के अस्तित्व से अलग राजा का कोई अस्तित्व नहीं है। वास्तव में राजा प्रजा का ही प्रतीक है।

आत्मनि रक्षिते सर्वं रक्षितं भवति।

राजा की आत्मरक्षा रहने पर ही समस्त राष्ट्र रक्षित रहता है। राजा समस्त राष्ट्र की सदिच्छाओं तथा शक्तियों का मूर्त प्रतिनिधि होता है। उस पर प्रत्यक्ष आक्रमण होना राष्ट्र पर आक्रमण होना, उसका पराभूत हो जाना राष्ट्र का पराभूत होना हो जाता है। राजा पर आक्रमण या उसका पराभव राष्ट्र की अवस्था को रात्रि में दीपकहीन घर के समान अंधकारमय बना डालता है। अतएव राजागण अपनी दण्डहस्तता से अहंकाराभिभूत न बनें और दण्डनीति का दुरुपयोग न करें। वह ऐसा करके प्रजा के शत्रु तथा दुराचारी स्वार्थी आततायियों के मित्र न बनें और राजद्रोहरूपी आत्मद्रोह करके आत्मघात न करें।

आत्मायत्तौ वृद्धिविनाशौ।

मनुष्य की वृद्धि और विनाश उसके अपने व्यवहार पर निर्भर करता है।

राष्ट्र की वृद्धि या समुच्छेद राजा प्रजा दोनों की योग्यता अयोग्यता पर निर्भर होते हैं। सुबुद्धि से वृद्धि तथा कुबुद्धि से विनाश होता है। राजा के योग्य होने पर राज्य का विस्तार होता है तथा उसके नीतिहीन मद्यप, दुराचारी, व्यभिचारी, आखेटव्यसनी, जुआरी तथा निर्गुण होने पर सुशासन न रहने से राज्य निश्चित विनाश को प्राप्त होता है।

दण्डो हि विज्ञाने प्रणीयते।

दण्ड का प्रयोग सोच-समझकर करना चाहिए।

दण्ड का यथार्थ स्वरूप ही ऐसा है कि उसकी सम्यक आलोचना करने पर सद्सद्विचाररूपी ज्ञानमयी स्थिति अनिवार्य रूप से प्रकट होती है। देखते हैं कि छोटे-छोटे झगडे उच्च न्यायालयों तक पहुंचकर वहां के न्यायाधीशों को चकरा देते हैं। वे किसे दण्ड दें, यह समझने में असमर्थ रह जाते हैं। अपराधी का पकडा जाना तथा अपराध सिद्ध होना इसी मेल नहीं है। अतएव दंड का प्रयोग सूक्ष्मतम विचार के उपरान्त ही करें।

इस श्लोक का एक रूप 'दण्डनीत्यादि विनान प्रणीयते' भी है।

दण्डनीति का प्रयोग पूर्ण विवेक का प्रयोग करने के उपरान्त ही होना आवश्यक है।

दुर्बलोऽपि राजा नावमन्तव्य ।

राजा को दुर्बल साधारण मानव मात्र मानकर उसकी अवज्ञा न करे। राजा अकेला ही प्रजा शक्ति का प्रतिनिधि होता है। इस कारण उसके अकेलेपन में प्रजाशक्ति स्वभावत सम्मिलित रहती है। यही राजा का वास्तविक रूप है।

नास्त्यग्नेर्दौर्बल्यम् ।

जैसे आग कभी दुर्बल नहीं होती है, वैसे ही उसका क्षुद्र भी विस्फुलिंग ईंधन के संयोग से महाग्नि बनकर विशाल वनों को फूंक डालने की सामर्थ्य रखता है। इसी प्रकार जिन लोगों में राजश्री प्रकट होती है, वे क्षुद्र शक्ति दीखने पर भी अपनी अन्तर्निहित संगठनात्मक शक्तियों से जनता के सहयोग से अनेक साधन पाकर प्रबल होकर अक्षमता के लिये भयंकर बन जाते हैं। इसलिए राजशक्ति को थोडा मानकर उसे केवल व्यक्तिगत रूप में देखकर उपेक्षा करना उचित नहीं है। जो राजा प्रजा से अलग अपना व्यक्तित्व रखने की भूल कर अपने क्षुद्र अनुयायियों की संकीर्ण शासक जाति बना लेता है, वह स्वयं ही जनता की उपेक्षा का पात्र बन जाता है। जब तक राजा प्रजा के साथ रहता है तब तक प्रजा भी उसके साथ लगी रहती है और उसे महाशक्ति बनाये रखती है।

दण्डे प्रतीयते वृत्ति ।

राजा की वृत्ति अर्थात सम्पूर्ण शासकीय योग्यता या विशेषता उसकी दण्डनीति अर्थात उसकी प्रजापालन की विद्या या कला में या कला से प्रकट होती है।

इस श्लोक का एक रूप 'दण्डे प्रणीयते वृत्ति' भी है।

प्रजा की वृत्ति अर्थात प्रजा की जीवन यात्रा दु साहसी लोगो पर न्याय दण्ड का प्रयोग होते रहने पर ही ठीक-ठीक चलती है। देश मे न्याय-दण्ड का अभाव हो जाने पर लोगो के पारस्परिक विवादो से जीविका की हानि होती है। तब प्रजा राजा के विरुद्ध विद्रोह कर देती है।

वृत्तिमूलमर्थलाभ ।

किसी राष्ट्र के धार्मिक लोग दरिद्र हैं तो धार्मिक लोगो की दरिद्रता राष्ट्र का अभिशाप है। इसलिये है कि राष्ट्र की धार्मिक जनता ही वास्तव में राष्ट्र का सच्चा प्रतिनिधि है। उसी पर राष्ट्र की शक्ति और भविष्य निर्भर रहता है।

इस श्लोक का एक रूप 'वृत्तिमूलोऽर्थलाभ' भी है।

अर्थ लाभ प्रजा की शात स्थिति पर निर्भर करता है।

अर्थमूलो धर्म कामौ ।

ऐहिक कर्त्तव्य के पालन के साथ-साथ मानसिक उत्कर्ष का रूप, धर्म का अनुष्ठान, राष्ट्र की कामनाओ की पूर्ति राज्यैश्वर्य की स्थिरता पर निर्भर करती है।

अर्थ के बिना देश हितकारी कर्म नही होते हैं। अभद्र उपायो से धनार्जन कर प्रजा की प्रसन्नता सलग्न प्राप्त कर से ही राजश्री की वृद्धि होती है।

अर्थमूल कार्यम् ।

अर्थ सभी कार्यों का मूल होता है राज्यश्री ही राज्यशक्ति की कर्मण्यता की सरक्षिका होता है। लौकिक काम भी परस्पर या धनधान्यादि

से ही सम्पन्न हाते हैं। जैसे पवत से नदिया निकलकर बहने लगती हैं, इसी प्रकार प्रवाहमान धन से समस्त काय हाते है।

यदल्प-प्रयत्नात कार्यसिद्धिर्भवति।

राज्यश्री रहने पर अल्प समय म ही दीघ काय सम्पन्न हो जाते है।

राजकाज की सिद्धि तथा राज्यश्री एक-दूसरे पर समान भाव से निभर होती हैं (सुसपन्न राज कार्यों से तो राजश्री की प्राप्ति होती है और राज्यश्री की प्राप्ति से राजकाज सुसपन्न होते हैं) इस दृष्टि से अल्प प्रयत्नो से काय सिद्ध होने की बात का कोई अथ नही है। प्रयत्न म अल्पता अधिकता का प्रश्न ही व्यथ है। काय सिद्धि मे उपाय का ही प्रश्न मुख्य रहता है।

इस श्लोक का एक रूप 'यदल्पप्रयत्नात कायसिद्धिभवति स उपाय' भी है।

जिस प्रयत्न से कायसिद्धि हो वही उपाय करना चाहिए।

साम, दाम, दण्ड, भेद, माया, उपक्षा तथा इन्द्रजाल नामक उपाय काय सिद्धि की परिस्थित्यनुसारी सात उपाय हैं। राजा लोग इन काय साधक उपायो को ठीक-ठीक पहचानें। उपाय चिन्ता ही राज्यश्री की वद्धि का एकमात्र कारण है। सुवचन तथा सुव्यवस्था से दूसरा को अनुकूल बनाना 'साम' नाम का उपाय है। स्वाधिकृत द्रव्य दूसरे का दकर विनिमय मे उसकी अनुकूलता प्राप्त करना 'दाम' नामक उपाय माना गया है। शत्रु का धनप्राणहरण तथा ताडन 'दण्ड' नामक उपाय है। शत्रुओं मे परस्पर कलह पैदा करना 'भेद नामक उपाय है। जिह्म तथा अनृत स शत्रु की प्रवचना करना 'माया' नाम का उपाय है। शत्रु स असहयाग 'उपक्षा' नाम का उपाय है। शत्रु के विरुद्ध षडयन्त्र 'इन्द्रजाल' नाम का उपाय बतलाया गया है।

उपायपूर्वं न दुष्कर स्यात्।

उपाय करन से कोई काय दुष्कर नही रह जाता है।

काय अव्यय उपाय का अवलम्बन करन पर सुगम हो जाता है।

कत्त व्य मे दुष्करता का कोइ अथ नही है। कत्त व्य सदा मान्वीय सामथ्य के अधीन होता है, जब ऐसा नही होता है तो वह कत्त व्य नही होता है। दुष्कर समझे हुए कत्त व्य का अथ उसे करन के लिये प्रस्तुत न होना ही कत्त व्य भ्रष्टता है। किसी कत्त व्य के लिये प्रस्तुत न होना ही उसकी कठिनता का रूप होता है। ज्यो ही मनुष्य किसी कत्त व्य के लिये उद्यत होता है त्यो ही कत्त व्य साधन अनिवाय रूप से सगृहीत हो जाते हैं। कत्त व्य माग के विघ्न को हटान की अनिच्छा ही कठिनता बन जाती है। कठिनता के प्रति कठोर होते ही कठिनता सरलता मे बदल जाती है। अतएव सच्चे लोगों का हार्दिक सम्ब-ध कत्त व्य के वाह्यरूप से न होकर केवल उसके निश्चयात्मक रूप के साथ होता है।

इस श्लोक का एक रूप 'उपायपूव काय न दुष्करस्यात' भी है।

अनुपायपूव कार्यं कृतमपि नश्यति।

पहले अगर उपाय निश्चित न किये जायगे तो प्रारभ किया प्रत्यक काय व्यथ हो जायेगा। पहले निश्चयात्मक बुद्धि के द्वारा निणय कर लेने पर कार्यारभ करना चाहिए। सभी पहलुआ पर सोच विचार कर कदम उठना ही उत्तम नीति है।

कार्याथिनामुपाय एव सहाय।

उपाय उद्यमियो (काय करने वालो का) सच्चा सहायक होता है। उपाय कार्याथियो को दसो दिशाओ मे सुरक्षित रखन वाला तथा शत्रु पर विजय पान की योग्यता देने वाला, सच्चा बल है। कत्तव्यशील लोग काय की आवश्यकता के अनुसार अपनी निश्चयात्मिका बुद्धि से सामादि उपयुक्त साधनो का निणय कर अपनी विजय के सम्ब-ध म नि सन्दिग्ध, विजयोत्साह से शक्तिमान तथा अनुकूल प्रतिकूल फलो के प्रति निरपक्ष होकर अपने आपको कत्तव्य मे सलग्न कर देते हैं। इसलिये कार्यार्थी सिद्धि तब ही पा सकते हैं जब वे कार्योपयोगी उपायो को अभ्रान्त रीति से सोचकर कत्तव्यपालन की सन्तोषरूपी सिद्धि का पहले स ही अपनी मुटठी कम म प्रवृत्त हो।

सफलतायें या तो यशस्वी बनने, भौतिक सुख पाने या, श्रेष्ठतम मनुष्य बन जाने के लिये फलसिद्धि के सम्बन्ध में किसी भी प्रकार की उत्सुकता न रखकर तन्मय होकर कर्त्तव्यपालन में जुट पडने वाले लोगों की गोदों में उत्सुक होकर स्वयमेव आकर गिरती हैं।

कार्यं पुरुषकारेण लक्ष्य सम्पद्यते।

कार्य पुरुषकार में आ जाने अर्थात् कर्त्तव्यरूप में स्वीकृत हो चुकने के पश्चात् लक्ष्य बन जाता है अर्थात् फल का स्थान लेकर फल को गौणपक्ष में डाल देता है या स्वयं ही मुख्य फल बन जाता है। सिद्धि पाने का यह आवश्यक रहस्यमय सिद्धान्त कभी न भूलें कि सिद्धियां सिद्धों को ही प्राप्त हुआ करती हैं। सिद्धियां अपने को असिद्ध मानने वालों के गले में जयमाला कभी नहीं डालतीं। सघर्षरत मनुष्य विजय दिलाने वाली नैराश्यहीन महत्वपूर्ण सफलता को अपनी मुट्ठी में आ चुकी हुई मानकर कल्याणकारी उपायों को पुरुषार्थ का रूप दे देते हैं अर्थात् कार्य रूप में परिणत कर देते हैं।

पुरुषकारमनुवर्तते दैवम्।

भाग्य (दैव) पुरुषार्थ के पीछे चलता है।

—दैव के भरोसे पर कर्त्तव्यनिर्णय नहीं होता है। कर्त्तव्यपालन में दैव का कोई स्थान नहीं है। मनुष्य को दैव को दृष्टि से बाहर रखकर ही पुरुषार्थ करना पडता है। पुरुषार्थ ही मुख्य है। दैव गौण है। जो करता है वह पुरुषार्थ है जो कर चुके वह दैव है। मनुष्य का वर्तमान से संबंध है। भूत के साथ उसकी निर्भरता का संबंध नहीं रहता है।

दैवं विनाऽतिप्रयत्नं करोति यत् तद् विफलम्।

भाग्य साथ न दे तो बिना उत्तम रीति से किया गया कार्य फल रहित होता है। अतएव रीति मुख्य है भाग्य नहीं। पुरुषार्थ के द्वारा भाग्य अनुकूल हो जाता है।

भाग्य की अनुकूलता के भरोसे पर रहा जाय तो कर्त्तव्य प्रारंभ ही

नहीं किया जा सकता है। यदि भाग्य की अनुकूलता से भौतिक सफलता तथा प्रतिकूलता से निष्फलता निश्चित हो जाय तो कम करने की आवश्यकता ही न पडे। इस दृष्टि से मनुष्य की दैवाश्रितता पुरुषकार का विरोध करनी है। पुरुषार्थ से कर्त्तव्य करना भवितव्यता की अपेक्षा करके ही सभव होता है। भविष्यकालीन भौतिक सफलता, मनुष्य बुद्धि के लिये अज्ञेय होती है। भौतिक सफलता विफलता के साथ मानव जीवन के जय-पराजय का कोई सम्बन्ध नही है। भौतिक सफलता विफलता दोनो मे से कोई भी हो, प्रत्यक परिस्थिति मे विजयी जीवन बनाये रखना मानव-जीवन का लक्ष्य होता है।

असमाहितस्य वृत्तिन विद्यते।

सुव्यवस्थित चित्त वाले पुरुष के पास सदभावना नही रहती है। दैव के भरोसे बठने वाला मनुष्य जीवन-यात्रा मे साधन करन से वचित हो जाता है। उसका जीवन व्यथ का क्रीडाक्षेत्र बन जाता है।

इस श्लोक का एक रूप अनीहमानस्य वृत्तिन विद्यते' भी है।

पूर्वं निश्चित्य पश्चात् कार्यंभारभेत।

कार्यारम करने से पहले उसकी अनिवाय कत्तव्यता, फलाफल, नीति, उपाय पर खूब विचार कर लेने के उपरान्त ही हाथ लगाना चाहिए। सोच समझकर कार्यारभ करना चाहिए। बिना विचारे करने से नाना प्रकार के सकट खडे हो जाया करते हैं।

बुद्धिमान पुरुष यह सिद्धान्त सदा ध्यान मे रखते हैं।

कार्यान्तरे दीर्घसूत्रता न कर्तव्या।

कर्त्तव्य को लम्बा करना 'अभी क्या जल्दी पडी है। बहुत समय है।' इस बुद्धि से कत्तव्य के मध्य मे कर्त्तव्यान्तर छोडना या [आलस्य के दुष्ट भोग के लिये कर्त्तव्य को स्थगित रखना दीर्घसूत्रता, आलस्य है। घण्टे भर के काम मे दिन भर जितना समय न लगाना चाहिये। जब मनुष्य कर्त्तव्य को कर्त्तव्य नहीं समझता, तब उसमे कर्त्तव्य भ्रष्ट रहने तथा उसे अति विलम्ब

से करने का दोष आ ही जाता है। आलसी, दीर्घसूत्री, शठ, मानी, ला
से भयभीत तथा कल-काल की प्रतीक्षा में कर्त्तव्य का समय खोने वालों
काम सिद्धि नही हुआ करते।

नचलचित्तस्य कार्यावाप्ति ।

चलचित्त अर्थात अस्थिर, अदृढ मन वाले आदर्शहीनता लक्ष्य भ्र
व्यक्ति के काम पूरे नहीं हुआ करते हैं।

मन की अस्थिरता, अदृढता, आदर्शहीनता तथा लक्ष्यभ्रष्टता
कार्यो का मध्य मे ही व्याघात होकर कर्मफल अप्राप्य रह जाता है। समस्त
कार्य मन के स्थिर होने से ही सुसम्पन्न होते हैं। मन की स्थिरता से ही
बुद्धि का विकास और उससे कार्य में दक्षता प्राप्त होती है। पवित्रता ही
मन की स्थिरता तथा अपवित्रता ही मन की अस्थिरता कही गयी है। मन
को तत्वज्ञान से परिचित रखना ही उसकी स्थिरता का एकमात्र उपाय है
गीता के शब्दों मे "न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते"। इस ससार मे
तत्वज्ञान सा पवित्र कुछ भी नही है। जीवन से आरोपित वस्तुओं
का बन्धन हटाकर अनारोपित वस्तु का परिज्ञान हो जाना ही तत्वज्ञान कहा
गया है।

हस्तगतावमाननात् कार्यव्यतिक्रमो भवति ।

हाथ के साधनो का सदुपयोग न करने से कार्य का नाश हो जाता है।
कार्यसिद्धि मे प्राप्त साधनो के सदुपयोग का महत्वपूर्ण स्थान है, उसे ठीक-
ठीक समझना चाहिये। ससार के मूर्ख लोग प्राय कार्यसिद्धि के लिये
अप्राप्य साधनो के पीछे तो भटकते हैं पर प्राप्य साधनो के मूल्य को नहीं
आकते और उन्हें अनुपयुक्त रहने देते हैं। कार्य कभी भी प्राप्य साधनो के
सदुपयोग के बिना सिद्ध नही होता है। कार्य हाथ लगे साधनो की अवज्ञा
अनवधान हेयबुद्धि महत्वहीनता की कल्पना आदि दोषो के कारण जैसा
चाहिये वैसा नही हो पाता है। इसलिये मनुष्य कार्य हाथ मे आते ही सबसे
पहले मन को प्राप्त साधनो के सदुपयोग मे अवहित कर तथा परिणाम
निकलने का समय आने तक उसमे केन्द्रित रखे।

इस श्लोक का एक रूप 'हस्तगता माननात् कार्यव्यक्तिर्भवति' भी है।

दोषवर्जितानि कार्याणि दुर्लभानि।

ससार मे निर्दोष कार्य बहुत न्यून (कम) होते हैं।

ससार मे निर्दोष अर्थात व्यक्तिगत क्षुद्र स्वार्थरहित तथा सार्वजनिक कल्याण मे अपना कल्याण देखने की भावना से किये जाने वाले पुरुषो का प्राय अभाव पाया जाता है। यदि समाज मे निर्दोष कर्म करने वाली आखें खुल जायें, तो उसमे सुखसपत्ति की गगा बहने लगे। प्राय सारा ही ससार स्वार्थबुद्धि से कलुषित होकर अचिन्ता तथा अविचार से काम करता है। इसी कारण समाज मे सुखोत्पत्ति न होकर दु खों की ही उत्पति होती है। लोग अपनी क्षुद्र आपातदृष्टि के कारण व्यक्तिगत स्वार्थों के ही पीछे दौडते हैं। अपने अकल्याण मे प्रवृत होकर सच्चे कल्याण के सम्बन्ध मे अधे बने रहते है। ससार मे बहुमत 'करके' पछताने वाला, का है, पर सोचकर करने वालो का ससार मे प्राय अभाव है। मनुष्य की इसी त्रुटि से ससार मे निर्दोष कर्म विरले हो गये हैं। यदि मनुष्य सोचकर काम करे तो उसके कर्मों का निर्दोष होना असभव नही है। निर्दोष कर्त्तव्य करने मे ही मनुष्य की मनुष्यता की सुरक्षा और समाज का सच्चा कल्याण हो सकता है।

दुरनुबन्ध कार्यं नारभेत।

मनुष्य निश्चित शुभ परिणाम न प्राप्त होने वाले कार्य मे हाथ न लगाये। पहले वह उसके परिणाम पर खूब विचार कर ले। दुरनुबन्ध अर्थात् अशुभ मिश्रित सिद्धि हो तो उसे निश्चय अशुभ समझकर ही नही अपनाना चाहिये। मनुष्य यह जाने कि उसके पास आने वाले समस्त काम करने के ही लिये नहीं आते हैं। उनमे से कुछ तो अस्वीकृत होने के लिये ही आते हैं। मनुष्य के पास कुछ काम ऐसे भी आते हैं, जिन्हे त्यागने मे ही उसका कल्याण होता है। अकल्याणकारी कर्त्तव्यो को त्यागना भी कर्त्तव्य कहलाता है।

कालवित् कार्यं साधयेत्।

अनुकूल समय को पहिचानने वाला अपना काम अनायास बना लेता

है। मनुष्य देश, काल, आत्म शक्ति, द्रव्य तथा उसका उपयोग उपाय और व्यवस्था को जानकर कर्म करे।

बुद्धिमान पुरुष क्या समय है ? कितने सहायक हैं ? क्या परिस्थिति है ? आयव्यय कितना है ? यह सब बातें सोचकर अपनी शक्ति म समझे तो कर, न समझे तो न कर। काम का भी एक समय होता है। जैसे प्रत्येक मिट्टी से पात्र नही बनते, उसी प्रकार प्रत्येक काम नही होते हैं। कार्योपयोगी समय आ जाने पर ही कार्य होता है। वह कार्य के उचित समय को पहचानने से ही सिद्ध होता है। कार्य का समय बीत जाने से कार्य करना निष्फल हो जाता है। कार्यसिद्धि म काम के उचित समय का पहचानने का बहुत बड़ा महत्व है।

जब व्यक्ति समयानुकूल आचरण नही करता है तो वह प्राय असफल हो जाता है। लोहा उसी समय इच्छानुकूल बनाया जा सकता है, जब वह तप्त हो। ठंडा हो जाने पर प्रहार करना अपना ही सिर फोडना है। इसी कारण समय का तत्काल लाभ उठाना ही बुद्धिमानी है।

सज्जन इस बात को जानते हैं। इसी कारण वह सफलताओं से मंडित रहते हैं।

इस श्लोक का एक रूप 'देशकालदित कार्य साधयति' भी है।

कालातिक्रमात् काल एव फल पिबति।

कर्त्तव्य का समय टल जाने से समय ही उसकी सफलता को चाट डालता है।

कर्त्तव्य जिस समय सूझता है वही उसका उचित काल होता है। उससे अच्छा उसका और कोई समय संभव नही है। सृष्टि की व्यवस्था ही ऐसी है कि कर्त्तव्य उचित समय पर उसी को सूझता है, जिसका वह कर्त्तव्य होता है और जिसे उसे अपने पूर्ण उत्तरदायित्व मे लेकर करना चाहिये। कर्त्तव्य के उचित समय को टाल देने का मतलब है, उसके फल को नष्ट कर डालना। सूझने के समय ही कर्त्तव्य का करना चाहिये। उसे न तो फिर के लिये टालना चाहिये और न उसे कर्त्तव्यहीन मनुष्य के कंधो का बोझा बना कर उसे बिगाडना चाहिये। कर्त्तव्य को फिर कल के लिये टालने से फिर

के लिसे उपस्थित कम उस स्थगित काम का नहीं होने देते हैं।

इसी कारण समय पर निर्धारित कार्य को समय पर न करने पर समय उनको खा डालता है।

इस श्लोक का एक रूप 'कालातिक्रमात् काल एव तत्तफलम पिबति' भी है।

क्षण प्रति कालविक्षेप न कुर्यात् सवकृत्येषु।

मनुष्य को चाहिऐं कि किसी भी निश्चित कर्त्तव्य मे एक क्षण की भी देर न करे।

ठीक समय पर किये कर्त्तव्यो की सफलता, मनुष्य को दिखा देती है कि यह काम जिस क्षण म किया गया है, वही उसका सर्वोत्तम काल था।

कार्य के उचित समय को पहचानना ही मनुष्य के सीखने की सर्वोत्तम कला मानी गयी है।

इस श्लोक का एक रूप 'क्षणप्रतिकालस्वरूप दर्शयति काल कृतपु' भी है।

देशफलविभागौ ज्ञात्वा कार्यमारभेत।

योग्य व्यक्ति कर्म को करे तो वह सफल होता है। उसी काम को अयोग्य व्यक्ति करे तो उसका असफल होना निश्चित है। योग्य को ही काम म लगाना तथा योग्य को ही दान करना सफल होता है। दान करने के समय तथा दान के योग्य पात्र को पहचान लेन पर ही दान की सफलता निर्भर करती है। जो जिस वस्तु का पाने का वास्तविक अधिकारी है, वही उस वस्तु को पाने का सच्चा पात्र भी है। देय वस्तु दान का सच्चा अधिकारी न मिलने तक दाता के पास धरोहर के रूप मे ही रहती है। दानी उस योग्य पात्र को देकर उस पर कोई कृपा नहीं करता, किन्तु उसकी धरोहर लौटाकर स्वय ही ऋणमुक्त हो जाता है। इस तथ्य को समझकर दिये हुए दान का बहुत महत्त्व है।

दवहीन कार्यं सुसाधमपि दु साव भवति।

दैव की प्रतिकूलता होने पर सुख साध्य कर्तव्य भी दु साध्य दीखन लगते हैं परन्तु पुरुषार्थी मनुष्य को कम की दु साध्यता, देखकर निराश न होना चाहिए। अपने प्रबल पुरुषार्थ से उस कम को साध्य कोटि म लाना है। पुरुषाथ के सामने दु साध्यता नाम की कोई वस्तु नहीं होती है। पुरुषाथ से मनुष्य न दुलघ्य पवतों को माग देन तथा दुस्तर समुद्रा के ऊपर स जाने के लिए माग बनाया है। लोग प्राय प्रवाहपतित होकर चलने वाले होते हैं। स्वय माग निर्धारण करना बहुत कम लोग जानते हैं। लोग ससारी प्रवाह के विरुद्ध चलन को ही दु साध्यता तथा प्रवाह के साथ चलन को सुसाध्यता मानते हैं। पुरुषार्थी की स्थिति इससे निराली है। उसके सामने सब समय यही विचार उपस्थित होता रहता है कि क्या जो हो रहा है, उसी के पीछे चलना मेरा कत्तव्य है या जो होना चाहिये, उसी को करना मेरा कत्तव्य है ?

नीतिज्ञो देशकालौ परीक्षेत।

व्यवहार कुशल मनुष्य परिस्थिति और अवसर दोनो का पूण ज्ञान प्राप्त करने के उपरान्त ही अपना काम करता है। वह इस काय की सपूण विवेचना उसी प्रकार करता है। वह सहसा कोई कार्य आरभ करके सकट का निमत्रण नही देता है। वह विवेक से काम लेता है।

उसे सब ज्ञान हो जाता है कि किस काय को किस रूप में कसे करना है ? यही तो नीतिवान का पहला कत्त व्य है।

परीक्ष्यकारिणी श्रीश्चिर तिष्ठित।

सुअवसर पहिचान कर काय करने वाले के पास ही श्री (सफलता) नियम से रहती है।

कुछ पुस्तको म यह अधिक सूत्र भी है।

सर्वाश्च सम्पद सर्वोपायेन परिग्रहेत्।

देश काल पहिचान कर काम करने वाले के पास सभी सम्पत्तियां स्वयमेव आ जाया करती हैं।

सर्वाश्च संपदः सर्वोपायेन ग्रहेत ।

राजा साम, दाम आदि समस्त बुद्धिकौशलो से अपने तथा प्रजा के पास सब प्रकार की मानवोचित संपत्तियो को संग्रह करने के लिये प्रयत्नशील रहे, जिनमे समय पड़ने पर अपने देश की उत्तमोत्तम सेवा कर सके। भूमि, रत्न, मान, धन, कीर्ति, सुशील, स्वास्थ्य, शिष्टाचार, व्यवहार कौशल विद्या तथा देश विदेशों की भाषा आदि संपत्ति के अनेक भेद हैं। जब राजा को राज्य रक्षा आदि तात्कालिक महत्व रखने वाले कामों के लिये धन की आवश्यकता पड़े, तब वह प्रजा से न्यायपूर्वक प्रेमपूर्वक धन-संग्रह करे। क्षीण कोशवाला राजा लोगो के उपभोग से अधिक धन को आंशिक रूप से इस प्रकार ले कि जिससे लिया जाय, उसके पास जीविका के साधनो का अभाव न हो जाय।

भाग्यवन्तमपरीक्ष्यकारिण श्री परित्यजति ।

राजा अपने पुरवासियो का धन उन्हें सन्तुष्ट या सहमत करके ही ले। असंतुष्ट कर अथवा बल प्रयोग से न ले। जो ले वह, उन्हे दिखा [illegible]। कुल परम्परा से श्रीमान चले आने वालो, पुरोहितों, श्रेष्ठियों, [illegible] सीमापालों से धन लेने की आवश्यकता उपस्थित होने पर राजा [illegible] रक्षा के नाम पर लेना चाहिये कि जिससे इन लोगो को दान [illegible] यश दोनो प्राप्त हो जाए।

सफलता के काय ने सुअवसर को न पहिचानने [illegible] वंचित कर दिया जाता है। इसलिए मनुष्य [illegible], अपनी शक्ति, देश काल आदि सब बातों के [illegible] काम करे।

इस श्लोक का एक रूप 'भाग्यवन्तम[illegible] जति' भी है।

कर्त्तव्य स्थिर करना चाहिए। अपने व्यावहारिक अनुभव और कल्पना शक्ति से कर्म की पूर्ण विवेचना करने से और तब कार्यारम्भ से सफलता निश्चित है।

यो यस्मिन् कर्मणि कुशलस्त तस्मिन्नेव योजयेत्।

जो जिस कार्य मे कुशल हो, उसे उसी प्रकार का कार्य सौपना चाहिए। सत्यनिष्ठ, विद्वानो को ही राजकाज मे लगाने पर राज दृढ होता है। जिस प्रकार बुद्धिमान चूडामणि को पैर मे नही बाधते है, वरन् सिर पर पर रखते है, उसी प्रकार राज्य के उत्तम व्यक्तियो को कभी निम्न पद पर नियुक्त नही करना चाहिए।

इस श्लोक का एक रूप 'यो यस्मिन् कर्मणि कुशलस्ते तस्मिन्नेव वियोजयेत' भी है।

दु:साधमपि सुसाध करोत्युपायज्ञ:।

अपने ज्ञान के द्वारा नीतिवान पुरुष कठिन कार्यों को भी सरल बना लेता है। इसी कारण योग्य व्यक्तियो को ही कार्यभार देना चाहिए ताकि कठिन से कठिन समस्या उत्पन्न होने पर वह उसे हल कर सके।

इस श्लोक का एक रूप 'देतादु साध्यमपि सुकर करोति' भी है।

कुशल व्यक्ति दुसाध्य कार्य को भी सरल बना देता है।

अज्ञानिना कृतमपि न बहु मन्तव्यम्।

अज्ञानी के कर्म को सफलता न मानकर उसे आकस्मिक घटना मान कर महत्व नही देना चाहिए। अज्ञानियो के कामो मे अयश, अयनाश तथा दुःख दोनो अनिवार्य हैं। इसलिये राजा लोग निर्गुण लोगो के भरोसे ही सफलता के सपने न देखें।

यादृच्छिकत्वात् कृमिरपि रूपान्तराणि करोति।

जैसे घुन का कीडा भी पदार्थों के आकार को आकस्मिक रूप से अबुद्धिपूर्वक बना देता है, पर उसके बनाये आकारो से उसकी निर्माण

कुशलता प्रमाणित नही होती है, इसी प्रकार स्वेच्छाचार अविवेक और अभिमृश्यकारिता से कभी कोई काम सयोगवश बन भी जाय, तो भी उस अविमृश्यकारिताकर्ता को उस काम का श्रेय नहीं दिया जा सकता है। विवेकपूर्वक कर्म ही मानव की विशेषता है। अविवेकपूर्वक किये गये कर्म की सफलता आकस्मिक घटना है। न तो यथेच्छ कर्म करने मे कल्याण है और न कराने म कल्याण है। विवेकपूर्वक कर्म करने मे ही मानव का कल्याण है। यथेच्छ कर्म करने से काम अधूरा रह जाता है और अनिष्ट होता है।

इस श्लोक का एक रूप' यादृच्छिकत्वात् कृमिरपि रूपान्तराणि किम् न करोति' भी है।

क्या आकस्मिक रूप से रेखा बनाने वाला कृमि जैसा मूढ प्राणी भी भिन्न भिन्न आकार नही बना लेता है?

सिद्धस्यैव कार्यस्य प्रकाशन कर्तव्यम्।

जब कर्म कर लिया जाय तभी उसकी जानकारी होने देना चाहिए। बीच म जानकारी देने से नाना प्रकार के क्लेश आ जाते है। शत्रुओ को बिगाडने का मौका मिल जाता है। इस कारण जब तक कार्य सफल न हो जाये, उसे गोपनीय ही रखना चाहिए प्रकाशित न करे।

इस श्लोक का एक रूप 'सिद्धस्य कार्यस्य प्रकाशन कर्त्त ' भी है।

ज्ञानवतामपि दैव मानुषदोषात् कार्याणि दुष्यन्ति।

कभी-कभी बहुत से काम भवितव्यता की प्रतिकूलता से या किसी मानवीय त्रुटि से दूषित हो जाने पर अधूरे पडे रह जाते हैं। भवितव्यता की प्रतिकूलता होने पर कर्म पूरा होने से पहले उसका ढिंढोरा पीटने से कर्ता निन्दित हो जाता है। इसलिये काम पूरा होने से पहले उसे किसी को न जानने दें। वज्रपात, भूकम्प, महामारी जलप्रलय आदि दैवदोष हैं। हिंसा द्वेष, विरोधियों के षडयन्त्र तथा अपनी भूल आदि काम बिगाडने वाले मानवीय दोष हैं। इनसे मनुष्यो के काम बहुधा बिगड जाते हैं। प्रत्येक काम बिगडने की सभावना रहती है। इसलिये काम पूरा होने से पहले उसे

बडी सावधानी से गुप्त रखना चाहिये। मनुष्य अपनी भूल के प्रभाव से कार्य विरोधी परिस्थितियों को पाकर दैव को तो कोसता है, पर यह नहीं जानता है कि मैंने अपनी किस भूल से अपना यह काम बिगाडा है ?

दैवं शान्तिकर्मणा प्रतिषेद्धव्यम् ।

भूकम्प, वज्रपात, जलप्रलय, झंझावात, राष्ट्र विप्लव तथा आततायी के आक्रमण आदि दैवी विपत्तियों के दिनो मे बुद्धि को स्थिर और शान्त रखकर उनका निवारण करना चाहिए। बुद्धिमान् लोग दैवी विपत्तियों से घबराकर अपनी प्रतिकार बुद्धि को कुठित न होने दें किन्तु अपनी स्वस्थ अक्षुब्ध बुद्धि का प्रयोग कर उसे टालने का सुदृढ प्रयत्न करें। किसी भी रूप म विपत्ति के सामने आत्मसमर्पण न करे। दैवी विपत्ति में मरना अनिवार्य हो तो विजयी होकर मरें कायर होकर न मरें,

दैव से आये भूकम्प, वज्रपात, विनाशक आंधी दुर्भिक्ष, महामारी, राष्ट्र विप्लव आदि दैवी विघ्न हैं। उत्पन्न विघ्नो का प्रतिकार करना तथा भावी अनिष्टो को उत्पन्न होने से रोकना शान्ति है, जैसे कवचादि धारण कर लेन से देह की शस्त्रों से रक्षा हो जाती है उसी प्रकार विशिष्ट उपायों से दैवी विघ्न भी शान्त किये जा सकते हैं। जैसे संयमपूर्वक रहने और नियम पालन से आयु की वृद्धि तथा असंयम और स्वेच्छाचार से आयु का ह्रास होता है, इसी प्रकार मनुष्य शान्तिकारक, पुष्टिदायक लौकिक वैदिक कर्मों के अनुष्ठान से दैवी विघ्नो पर भी विजय प्राप्त कर सकता है।

मानुषी कार्यविपत्ति कौशलेन विनिवारयेत् ।

कार्य बिगाडने वाले मानवीय विघ्नो को अपनी सतर्कता तथा बुद्धि कौशल से परास्त करना चाहिए। मनुष्य अपने कर्म की त्रुटिहीनता के सम्बन्ध म पूर्ण सन्तुष्ट और निश्चिन्त बने। कर्म की त्रुटिहीनता के सम्बन्ध मे सशयित, अयोग्य और अकुशल बने रहकर कर्म म हाथ लगाने से निष्फलता प्राप्त होती है। बुद्धि की निपुणता ही कौशल है। आग देना, विष देना धनापहार, गुप्त षड्यन्त्र जीवहिंसा आदि मानुषी विपत्ति हैं। मनुष्य अपनी प्रतिभा चातुर्य से इन सब विपत्तियों को हटाता रहे।

इस श्लोक का एक रूप 'मानुषी काय विपत्ति कौशलेन वारयेत' भी है।

कार्यविपत्तौ दोषान् वर्णयन्ति बालिशा ।

मूढ लोग काय मे असफल हो चुकन पर या तो अपनी उन गलतियो पर पश्चात्ताप करते हैं, जिन्हें उन्हें पहले ही हटाकर बाद म हाथ लगाना चाहिये था या आपस म एक दूसर पर काम बिगाडने का दोष लगा कर ईश्वर को लाछित तथा स्वय निर्दोष समीक्षक बनना चाहते हैं।

कार्यारम्भ से पहले उसकी चिन्ता कर समस्त सभावित विघ्नो के निवारण का प्रबन्ध करना ही बुद्धिमत्ता है और कम की त्रुटि का समझ जाना भी है। बिगडे काम की हसी उडा लेना तथा किसी दूसरे पर काम बिगाडने का लाछन लगा देना, आसान है पर किसी बिगडे काम की हसी उडा लेना ही और किसी पर दोष थोप देना ही कम की त्रुटि का समझ जाना नही है। विचारशील लोग कम म विपत्ति आ जाने पर दूसरो पर दोषारोपण करने की क्षुद्र प्रवृत्ति को त्यागकर बिगडे काम समाधान करके उसे सर्वांगपूर्ण सुसम्पन्न बनाने वाले समस्त सभावित उपायों को अपनाने म लग जाते हैं।

कार्यार्थिना दाक्षिण्य न कर्तव्यम् ।

मनुष्य सुपरिचित सुविश्वस्त लोगो के अतिरिक्त अपरिचित सदिग्ध लोगो के साथ सरल व्यवहार करने की भूल न करे। वह जाकर वन मे देखे कि वहां सरल वृक्ष तो सब काट डाले जाते हैं और टेढे खडे ही रह जाते हैं।

दाक्षिण्य शब्द सरलता और उदारता का वाचक है। यहां जिस सरलता और उदारता को दोष के रूप मे उपस्थित किया है, वह तो चालाक लोगो से धोखा दिलाने वाला भोलापन है। दैवी सपत्ति रूपी सरलता या उदारता का निषेध नही है। दैवी सपत्ति रूपी सरलता या उदारता के व्यवहार का क्षेत्र केवल श्रेष्ठ लोग होते हैं। विचार शून्यता तथा बुद्धि हीनता को ही सरलता, उदारता या भोलापन मानकर यह सूत्र लिखा गया है। भोले लोग सदा धूर्तों के कपट जाल मे सरलता से फस जाया करते हैं।

वे शत्रु को हितकारी मित्र और मित्र को वंचक शत्रु समझ लेते हैं। बुद्धि हीन लोगो के विचार शून्य मन दुष्टो की दुष्टता को फूलन फलने वाले बन जाते हैं। दुष्टो तथा देशद्रोहियो के साथ की हुई सरलता या उदारता किसी की व्यक्तिगत प्रशंसा का कारण बनकर भी राष्ट्र के साथ तो द्रोह ही है।

क्षीरार्थी वत्सो मातुरूध प्रतिहन्ति।

दुग्धपानार्थी गोवत्स को माता के स्तनों पर आघात करना पडता है।

जैसे दुग्धार्थी वत्स अपनी आवश्यकता से विवश होकर अपनी प्यारी गोमाता के स्तनों पर निर्मम प्रहार करता दीखने पर भी उसका दूध पीता रहता है तथा उसके कोमल स्तनो को पीडित न कर उसे अपने सुख स्पर्शों से आनन्दित भी करता है इसी प्रकार राष्ट्र पालनार्थी राजा राष्ट्र रक्षा नामक कठोर-कर्त्तव्य से विवश होकर बाह्य दृष्टि से अधम दीखने या नृशंस समझे जाने वाले कापटिक तथा आभिचारिक प्रयोगो से राष्ट्र माता के द्रोहियों का पूर्ण विनाश तथा दमन करते समय अधर्माचारी सा दीखने पर अपनी सत्य निष्ठता से अपनी धर्ममाता को आनन्दोद्वेल्लित करता रहता है। वह देशद्रोहियो के साथ व्यवहार के समय असरल, अनुदार, सतर्क उनसे पूरा बदला लेने वाला उनके प्रति क्रोध को कभी न भूलने वाला, उनके माया जाल से बचे रहने के लिये सत्य को छिपाये रखने वाला, पाप की भर्त्सना के लिये कठोर भाषी, निर्दय व्यवहारी तथा पूरा कृपण बनकर रहता है। इतना किये बिना साधुपरित्राण तथा असाधुदमन संभव नही है। पाप दमन के व्यावहारिक क्षेत्र में दूसरो से धोखा दिलाने वाली सरलता, उदारता, भोलेपन, क्षमा अक्रोध सत्य, प्रिय भाषण, दयालु व्यवहार आदि सदगुणो के प्रदर्शन का कोई स्थान नही है। प्रत्येक गुण के प्रदर्शन के अलग-अलग क्षेत्र होते हैं। सरलता सरलो के ही साथ व्यवहार में लाने योग्य गुण है। सरलता, सरलों का ही एकाधिकार है। असरल देशद्रोही लोगों को देशप्रेमी स्वधर्मनिष्ठ लोगों से सरल बर्ताव पाने का कोई अधिकार नहीं है।

अप्रयत्नात् कार्यविपत्तिर्भवति।

किसी काम के लिए अगर पूरा प्रयत्न न किया जावे तो वह असफल

रह जाता है।

इस श्लोक का एक रूप 'नास्ति दैवात् कार्यविपत्ति' भी है। कठोर परिश्रम के कारण भाग्य भला विपरीत हो, तो भी वह अनुकूल हो जाता कर्म के द्वारा मनुष्य अपना भाग्य भी बदल सकता है। पुरुषार्थी मनुष्य क्या नहीं कर सकता है। अतएव कठोर श्रम ही सज्जनों द्वारा अपनाया जाता है।

न दैवप्रमाणानां कार्यसिद्धि ।

पहले से ही असफलता का निश्चय कर बैठने वालों के काम सफल नहीं होते हैं। उनके द्वारा कोई नया काम भी शुरू नहीं होता है। जो भाग्य भरोसे रहते हैं, उनका पुरुषार्थ निर्बल रहता है।

इस श्लोक का एक रूप 'न दैवप्रमाणानां कार्यारम्भ' भी है।

दैवाश्रित या भाग्य भरोसे लोग दैव के भय से अपनी कर्मशक्ति को तृण के स्पंदन तक से शंकालु कछुए के समान सिकोड़कर बैठ जाते हैं और कोई भी नया काम नहीं छेड़ते हैं।

कार्यबाह्यो न पोषयत्याश्रितान् ।

जो व्यक्ति स्वभाव से कर्तव्यहीन है अथवा कर्त्तव्य से भागता है, वह अपने आश्रितों का भरण-पोषण नहीं कर सकता है। मनुष्य जब कर्त्तव्य-हीन हो जाता है, तो उसके आश्रित बड़ा दुःख पाते हैं। ऐसे मनुष्य का फिर परिवार या समाज में कोई स्थान नहीं रह जाता है।

वह सबकी उपेक्षा पाता है और अनादर का पात्र बन जाता है। ऐसा मनुष्य पृथ्वी पर समाज का भार होता है।

यः कार्यं न पश्यति सोऽन्धः ।

जो अपने विवेक की आंख से अपना सामयिक कर्तव्य पहिचान नहीं पाता है, वह आंखों के रहते भी अंधा रहता है।

योग्य कार्य को न पहिचान पाना ही, अंधा होना है। जब राजा राज्य-कर्मचारी इस प्रकार के होते हैं, तो राज्य का अनिष्ट अवश्य होता है। प्रजा में रोष उत्पन्न होता है।

प्रत्यक्षपरोक्षानुमानै कार्याणि परीक्षेत।

उपस्थित अनुपस्थित साधनो तथा अनुमानो द्वारा विचार पहले करके कर्तव्यो का निश्चय करे। कौन से साधन अपेक्षित हैं, उनमे से कितने हैं और कितने संग्रह करने है, सब मिल सकते हैं या नही ? मिल सकते हैं तो कौन से, कैसे, कहा से मिल सकते हैं ? सब बातो का पूर्ण विचार कर मनुष्य को काम प्रारभ करना चाहिये। यह विचार करलेने से हानि या असफलता की सभावनाए नष्ट हो जाती हैं।

अपरीक्ष्यकारिण श्री परित्यजति।

श्री अर्थात सफलता बिना विचारे काम करने वाले को त्याग देती है। जो लोग बिना सोचे समझे केवल लोभ या स्वार्थ के अधीन होकर काम —प्रारम्भ कर देते है और इस उद्योग से लोगो को केवल अपनी कार्य-तत्परतामात्र दिखाना चाहते हैं, वह अनिवार्य रूप से घृणा के पात्र बनकर राज्यश्री से वचित हो जाते हैं। कार्य से पहले उद्देश्य की सत्या-सत्यता अपना बलाबल, साधन सहयोगी, आय-व्यय, देशकाल आदि की परीक्षा अवश्य करनी चाहिये।

कुछ पुस्तको मे यह अधिक श्लोक भी है।

न परीक्ष्यकारिणा कार्यविपत्ति

ऊच-नीच सोच विचार कर कार्य करने वाला के कार्यों म न तो विघ्न आता है और न ही उन्हे असफलता मिलती है। यह सत्य है।

परीक्ष्यतार्या विपत्ति।

विपत्ति, सफलता के मार्ग मे आने वाली बाधाओं को विचार-पूर्वक हटाना चाहिए। विपत्ति विचारशील व्यक्ति का कुछ भी अहित नही कर सकती है। वह अपनी बुद्धि के बल पर विघ्नों का परास्त कर सकता है।

स्वशक्ति ज्ञात्वा कार्य-मारभेत।

अपनी शक्ति को खूब नाप-तौलकर ईमानदारी से अपना आकलन कर

आरभ करे। यही उसकी बुद्धिमानी है। अतएव सज्जन इस नियम
ालन करते हैं।

शक्तिबाह्य कम न करने मे मानव का कल्याण है। जितनी शक्ति
ा काम, उससे अधिक दुखों का धाम। इस लोकोक्ति के अनुसार
त ही कतव्य की सीमा है। जितनी तुममे शक्ति है, उतना ही तुम्हारा
य है। तुम्हारा कोई भी कर्तव्य तुम्हारी शक्ति से अधिक नही हो
ा है। तुममे जिस काम की शक्ति नही है, वह तुम्हारा कतव्य भी नही
यदि तुम ऐसा काम छेड बैठोगे, तो निश्चय रूप से असफल होगे
पछताओगे। तुम भूलकर भी ऐसे काम मे हाथ मत डालो, जिसे पूरा
की तुम्हारे पास शक्ति न हो। तुम पहले अपने मन मे शक्ति को
कर देखो। यदि तुम्हारे पास कम से अधिक शक्ति हो तो तुम नि शक
पना काम करो।

राजनीति मे प्रभाव, उत्साह और मन्त्रभेद से शक्ति तीन प्रकार की
जाती है। कोष, दण्ड तथा बल ये तीन प्रभुशक्ति प्रभावजनक शक्ति
ही गयी हैं। विक्रम तथा बल ये दो उत्साह-शक्ति नाम की दूसरी
त कही जाती है। पाचो अगो से सपन्न मन्त्र,-मन्त्र नाम की तीसरी
उ राजा इन तीनो शक्तियो से सम्पन्न रहकर काज-काज करे।

स्वजन तर्पयित्वा य शेषभोजी सोऽमृत भोजी।

अपने उपाजन मे से स्वजनो, बन्धुओ, अतिथियो, पोष्यो, दीन-दुखिया
समाज कल्याणकारी सस्थाओ को भरणपोषण करने के पश्चात शेष
से जीवन-यात्रा करन वाले लोग अन्नभोजी होने पर भी अमृतास्वादी
मृतभोजी होते हैं। केवल अपना पेट भरने वाला और अपने आश्रित
श्रितो तथा अपने उपजीव्य समाज के भरण-पोषणा की चिन्ता न रखन
पाप का उपाजन करता है। केवल अपना ही पेट भरना महापाप
जो देवों का भोजन तक स्वय खा जाता है, वह चोर है।

इस श्लोक का एक रूप 'य स्वजन भोजयित्वा शेषभुक्ते सोऽमृत
' भी है।

सर्वानुष्ठानादायमुखानि वर्धन्ते ।

राष्ट्र में भूमि, धन व्यापार, शिल्प आदि समस्त प्रकार के राष्ट्र हितैषी कर्तव्य सुसम्पन्न होने पर ही राज्य की आय बढती है। राज्य कर्मचारी जब स्वयं अपनी जेबें नही भरते हैं, तो जनता पर नये कर नही लगाने पडते हैं।

इस श्लोक का एक रूप' सर्वकार्यानुष्ठानादायमुखानि वर्धन्ते' भी है।

राष्ट्र की कर्म शक्ति और राज्य-कर्मचारियों द्वारा घूस न दिये जाने पर राष्ट्र की आय बढ जाती है।

नास्ति भीरो कार्यचिन्ता।

भीरू, कापुरुष अपने मन मे वीरोचित कार्य को स्थान नहीं देता है। वह कर्तव्य पूरा न करने का कोई न कोई बहाना अवश्य निकाल लेता है। वह शत्रु दमन कर आत्मरक्षा तक नहीं कर सकता है। वह शत्रु के चरण चुबन करता है। भय के कारण बुद्धि मंद पड जाती है और कर्तव्य बोझ मालूम पडने लगता है।

इस श्लोक का एक रूप' नीतिभीरो कार्य चिन्ता' भी है।

स्वामिन शील ज्ञात्वा कार्यार्थी कार्यं साधयेत्।

कार्यों मे नियुक्त लोग अपने आश्रयदाता स्वामी की रुचि को पहचान कर तदनुसार कार्य किया या कराया करते हैं। राजा के वीर होने पर उसके अनुयायी लोग उसकी रुचि के अनुयायी वीर होकर उसकी नियुक्ति के अनुसार कार्य को सपन्न कर लेते हैं। इसके विपरीत राजा के कापुरुष होने पर उसके अनुसार ही कार्यक्षेत्र में कापुरुषता का ही प्रदर्शन किया करते हैं।

इस श्लोक का एक रूप 'स्वामिन शीले विज्ञाय कार्यार्थी कार्यं साधयन्' भी है।

धेनो शीलज्ञ क्षीर भुङ्क्ते ।

जसे दुग्धार्थी गाय के स्वभाव को जानकर जिस रीति से सभव होता है, उसी रीति से उससे दुग्ध प्राप्त कर लेता है, उसी प्रकार राजसेवक राजा की रुचि के अनुकूल राजसेवा कर अपना राष्ट्रसेवा-उद्देश्य पूरा कर लिया करते हैं।

इस श्लोक का एक रूप 'धेनो शीलन क्षीर मुक्ते' भी है।

क्षुद्रे गुह्यप्रकाशनमात्मवान् न कुर्यात् ।

मनस्वी धीमान मनुष्य मन्दमति, अनीतिज्ञ, नीच, चचलबुद्धि अनुचर को अपनी गुह्य बात न बताये। फूटे पात्रो मे से जल के समान क्षुद्र के पेट में गुह्य बात नही खपती है। गुह्य बात उसके पेट मे रेचक औषध का काम करती है। उस सवत्र घोषित किये बिना नही रहा जाता है। क्षुद्र के पास गुह्य बात पहुचने से बात का उद्देश्य तो नष्ट हो जाता है और उसके स्थान पर अनर्थ की सृष्टि हो जाती है।

इस श्लोक का एक पाठ 'क्षुद्रे गुह्यप्रकाशनसमात्मवान न क्रियते' भी है।

आश्रितैरप्यवमन्यते मृदुस्वभाव ।

मृदुस्वभाव अर्थात अपात्रो तक को प्रसन्न कर ससारभर का प्रेमपात्र बनने का महत्वाकाक्षी पात्रापात्र विवेकहीन अदृढ मनुष्य अपने आश्रितो से भी अनादर पाता है।

प्रबन्ध के काम म अपात्रो को डाटने तथा सुपात्रो का आदर करने की दृढता अनिवार्य रूप से होनी चाहिये। मृदुस्वामी लोग अनिवाय रूप से अपात्रो से चिपटते और सुपात्रो से त्यक्त हो जाते हैं। प्रबन्ध सम्बन्धी समस्यायें ही ऐसी होती हैं कि सबको प्रसन्न नही किया जा सकता है। अन्याय तत्परता लोगो को डाटना और रुष्टकरना ही पडता है। अन्यायपक्ष को अनुत्साहित भर्त्सित ताडित और अवहेलित तथा न्यायपक्ष को उत्साहित और अनुमोदित रखना ही राजाओं का कत्त व्य है।

तीक्ष्णदण्ड सर्वै रुद्वेनीयो भवति।

लघु अपराध मे कठोर दण्ड देने वाला शासक सबकी घृणा का पात्र तथा अपने प्रभाव क्षेत्र मे उपद्रव खडा होने का कारण बन जाता है। राजा को राष्ट्र मे सुव्यवस्था रखने के लिये अपराधियो को वध, अर्थग्रहण तथा शरीरताडन तीन प्रकार के दण्ड देने पडते है। यो तो दण्ड अपराधी का अपराध करना ही दण्ड को अपने पास बुलाना है। दण्ड के सबध मे राजा का यह बडा सावधान कर्त्तव्य है कि दण्ड औचित्य की सीमा का उल्लघन भी न करे और वह अपराध से कम भी न हो।

यथाहृदण्डकारी स्यात्।

उचित यही है कि राजा यथायोग्य दण्ड देने वाला हो। उचितकारी ही सफल शासक बन सकता है। कठोर दण्ड जनता मे उद्वेग तथा राज-द्रोह फैलाता है, इसलिये दण्ड म अपराध की गुरता लघुता का पूरा ध्यान रखना चाहिये। लघु अपराध मे गुरु दण्ड, निरपराध अवस्था मे तीव्र या लघु दण्ड, गुरु अपराध मे लघु दण्ड या दण्डाभाव न होने का पूरा ध्यान रखना चाहिये।

इस श्लोक का एक रूप' ततो यर्थाहृदण्ड स्यात' भी है।

इस कारण यथायोग्य दड देन वाला बन।

अल्पसार श्रुतवन्तमपि बहुमन्यते लोक।

लोक, अगभीर मनुष्य के विद्वान् होने पर भी उसे प्रतिष्ठा की दृष्टि से नही देखता है। जिस विद्वान् की विद्वत्ता उसके हृदय को प्रभावित करने मे सफल नही हो पाती है वह उसके स्वभाव पर भी अपना प्रभाव डालने में असमथ ही रह जाती है। विद्या यदि सच्ची हो तो उसे मनुष्य के हृदय और स्वभाव दोनो ही पँर प्रभावशालिनी होना चाहिये। विद्या जब तक विद्वानों के हृदयो तथा स्वभावो म स्थान नहीं ले पाती है, तब तक वे विद्या का दुरुपयोग करते चल जाते है। उनकी विद्या रोगोत्पादक अजीर्ण भोजन के साथ-साथ उनकी अप्रतिष्ठा का कारण बन जाती है।

कुछ पुस्तकों मे यह अधिक सूत्र भी है।

सार माहाजन सग्रह पडियति।

माहाजनसग्रह अर्थात् किसी राज-काज के विषय मे बहुत लोगो का सम्मिलित होना अर्थात् कर्तापन हो जाना उद्देश्य को नष्ट कर डालता है। राष्ट्र के प्रबन्ध सम्बन्धी कामो मे मतदाताओ के हाथ यन्त्र के समान उठवाकर अथवा ढोरो का सा जीवन बिताने वाले पशुतुल्य लोगो से परची डलवाकर बहुमत सग्रह करने की आवश्यकता राज-काज की सारवत्ता तथा उद्देश्य को नष्ट कर डालती है।

ऐसा करने से राजकीय निणयों से औचित्य जाता रहता है तथा स्वाथ रूपी अनौचित्य आता है। प्रबन्ध सबन्धी निर्णय बहुमत के निणयो से असार हो जाते हैं। अल्पबहुमत से उसके अज्ञात विषय पर सम्मति लेकर कोई नियम या कत्तव्य शास्त्र बनाना सकटपूण खतरनाक अशास्त्रीय परिपाटी है।

राष्ट्र का विधान बनाने या राष्ट्र प्रबन्ध सम्बन्धी गम्भीर प्रश्नो का समाधान करने के सबन्ध में मतभेद रखने वाले, भिन्न-भिन्न स्वार्थी सम्प्रदायों, दलो या व्यक्तियो को सम्मिलित कर लेना तो उसका उद्देश्य ही नष्ट कर लेना हो जाता है। राष्ट्र शक्तिमान् तब ही रह सकता है, जब कि राष्ट्र की प्रतिनिधि राज्यशक्ति को शक्तिमान् बनाकर रखा जाय। व्यवस्था निर्माताओ तथा व्यवस्था कर्ताओ का ऐकमत्य ही निर्दोष राज शक्ति होती है। राज शक्ति मे भिन्न भिन्न राजनैतिक मन्तव्य रखने वालों का सम्मिलित रहना तो स्पष्ट ही राजशक्ति की निबलता है। राजशक्ति की निबलता राष्ट्र की निबलता है। यह निबलता राष्ट्र के ध्वस का कारण बन जाती है।

अतिभार पुरुषमवसादयति।

अतिभार मनुष्य को हतोत्साह तथा क्लान्त कर कम को अनिवाय रूप से निष्फल बना डालता या नष्ट कर देता है।

इस प्रसग मे अतिभार तथा उचित भार के स्वरूप का प्रश्न स्वभाव से उपस्थित होता है। भार कर्म का स्वाभाविक साथी है। कम के साथ भार स्वभाव से लगा रहता है। उत्तरदायित्व ही भार है। यह भार मूलत

भौतिक न होकर मानसिक होता है। कर्ता अपने विवक के सम्मुख अपने कम का उत्तरदायी होता है। जब उत्तरदायित्व अपना सीमोल्लघन करता है, तब वह विवेक से स्थानान्तरित होकर अविवकाश्रित हो जाता है। करने वाले को थका डालता है। तब वह उससे कत्त व्य पालन का सन्तोष छीनकर कम को अति भार का रूप दे देता है। ऐसा कम कर्ता के सन्तोष का कारण न बनकर दु ख का कारण बन जाता है। कामना का अपूण रह जाना ही दु ख है। किसी भौतिक फल की अभिलाषा ही कामना है। ज्ञातव्य है कि कम के सबध म मनुष्य का अधिकार कहा तक है ? मनुष्य को जानना चाहिये कि कत्त व्य का भौतिक फल कम करने वाल के अधिकार मे नही होता है।

य ससदि परदोषशसति स स्वदोष प्रख्यापयति।

जो राजसभा मे दोषालोचन का प्रसग होन पर भी आलोच्य प्रसग से बाहर जाकर अपन व्यक्तिगत शत्रु की दोषालोचना करन लगता है वह स्वय अपने को अपराधी घोषित कर देता है।

राजसभा मे सावजनिक कल्याण की भावना से कत्त व्य निणय किय जाते है। वह स्थान इसी प्रयोजन के लिय होता है। उसम सम्मिलित होने वाले राष्ट्र सेवको की योग्यता इसी मे मानी जाती है कि वे राष्ट्र के किसी व्यक्ति के प्रति अपनी व्यक्तिगत शत्रुता को स्थान न देकर सावजनिक कल्याण की भावना से राजतन्त्र का परिचालन करें। इसके लिए कत्त व्य का निणय करन में अपनी विचार शक्ति को उपयोग में लाकर न्याय को ही सर्वोपरि स्थान देकर राजतन्त्र मे सहयोग दें। इस आदश को उपेक्षित करके अपने अधिकार का दुरुपयोग करन वाले व्यक्ति राजतन्त्र म सहयोग देन के अयोग्य राष्ट्रद्रोह नामक अपराध के अपराधी बन जाते हैं।

जो सभा मे किसी व्यक्ति के पक्ष का खडन न कर, उसके कार्यों के दोष तथा उसके दुष्परिणामो पर प्रकाश न डाल, उसके व्यक्तिगत दोष दिखाने या व्यक्तिगत आक्रमण करने पर उतर आता है, वह अपने को सभा म भी सम्मिलित होने तथा सभा को किसी यथाथ निणय पर पहुचाने के अयोग्य भी घोषित कर देता है।

सभा में दोषी व्यक्ति या सदोष पक्ष के प्रतिनिधि पर व्यक्तिगत आक्रमण न कर, उसके कार्यों की सदोषता तथा उससे होने वाले दुष्परिणाम सप्रमाण दिखाकर सभा की सभ्य भाषा में उन्ही की ही तरह पूर्ण भर्त्सना करनी चाहिये।

इस सूत्र मे किसी राष्ट्र शत्रु को अपराधी सिद्ध करके उसे दण्डित करने के ही लिये ही बुलाई हुई सभा मे उसके विरुद्ध अनिवार्य रूप से आवश्यक उसके व्यक्तिगत दोषो की आलोचना का निषेध नही किया जा रहा है, क्योंकि तब उस समय ऐसा करना वक्ताओ का अनिवार्य कर्त्तव्य होता है।

आत्मानमेवनाशयत्यनात्मवतां कोप ।

असस्कृत मन वाले अविवेकी लोगो का क्रोध उन्ही के आत्मकल्याण का विनाशक होता है।

हिताहित बुद्धि से शून्य लोग स्वभाव से सत्यद्रोही तथा असत्य प्रेमी होते हैं। अपनी विपरीत बुद्धि से जहा सचाई, स्वाभिमान, अपमानना सहिष्णुता आदि उदार गुण देखते हैं, वही पर सत्य का सिर नीचा करने के लिये उस पर आक्रमण करते है और असत्य में लिप्त रहते हैं। इस प्रकार के लोगो का प्रत्येक आचरण सत्यद्रोह होता है और आत्मघाती क्रोध का रूप धारण कर लेता है।

सत्य से सम्मिलित रहने रूपी उदार स्थिति से वचित रहना ही मनुष्य का आत्मनाश है। यह उसका ऐसा विनाश है, जो कभी-कभी भौतिक उन्नति का रूप धारण किये हुए भी हो सकता है। असत्य के अधीन न होना ही मनुष्य की आत्मरक्षा है। यही विनाश तथा रक्षा अथवा अहित और हित की अभ्रान्त परिभाषा है। इस परिभाषा के अनुसार विवेकहीन हृदय वाले पापी लोग अपने पीडित का कुछ न बिगाड कर सदा अपना ही अहित करते रहते हैं। ये लोग जिस सत्पुरुष पर आक्रमण करते हैं, उसकी भौतिक परिस्थिति या देह के आक्रान्त हो जाने पर भी उसका साधुहृदय आक्रमणातीत तथा पतनातीत बना रहता है। उस पापी के क्रोध से साधु पुरुष की भौतिक हानि होती दीखने पर भी उसकी कोई भी मानसिक हानि नहीं होती है।

नास्त्यप्राप्य सत्यवताम् ।

सत्यधन से सम्पन्न व्यक्तियो के लिये कोई भी प्राप्तव्य वस्तु अप्राप्य नहीं रह जाती।

सत्य को पा चुकना ही ससार की सवश्रेष्ठ सपत्ति से सपन्न हो जाना है। इस कारण सत्यनिष्ठों को कुछ भी अप्राप्य नहीं रहता। उनकी दृष्टि में सत्य ही एकमात्र प्राप्तव्य वह वस्तु होती है, जिसे वे पा चुके होते हैं। उनकी बुद्धि उन्हें ससार की सवश्रेष्ठ वस्तु सत्य को प्राप्त कराने के उपयोग में आकर उन्हे स्वभाव से सत्य से मिलाये रखने तथा असत्य का त्याग कराने के काम मे आती रहती है और अस्थायी मिथ्या वस्तुओं की कामना के जाल से बचाती है। उनकी बुद्धि उन्हें क्षुद्र अस्थायी उद्देश्यों की ओर से विमुख बना देती है। जब मनुष्य के पास सत्य से तृप्ति की अवस्था आती है, तब असम्य पदार्थ स्वभाव से उपेक्षा पक्ष में चले जाते हैं।

इस श्लोक का एक रूप यह भी है, 'नास्त्यप्राप्यं सत्यवताम् ।'

कर्त्तव्य के लिये उचित उद्योग करने वाले पुरुषार्थी सत्यनिष्ठ मनीषी बुद्धिमान किसी भी प्राप्य वस्तु के लिए अभावग्रस्त नही रहते हैं। उनका पुरुषार्थ उन्हे सब समय सत्यधन से धनवान बनाए रखकर कर्त्तव्य पालन के सतोष से पूर्ण काम बनाए रहता है।

साहसेन न कार्यसिद्धिर्भवति।

साहस अर्थात् केवल भौतिक शक्ति पर निर्भर हो जाने मात्र से काम नही बनता।

भौतिक शक्ति सदा अन्धी होती है। वह अपनी सफलता तथा कृतकृत्यता के लिये सुनेतृत्व चाहा करती है। सुबुद्धि ही भौतिक शक्ति का नेतृत्व तथा सदुपयोग कर सकती है। भौतिक शक्ति को सुबुद्धि का नेतृत्व न मिले तो मनुष्य का साहस भी दुःसाहस बन जाता है।

कुछ पुस्तकों में यह अधिक सूत्र भी है।

साहसे लक्ष्मी (खलु श्री:) वसति।

लक्ष्मी साहस में बसती हैं। वह सदा साहसियों के पास रहती है।

साहस करने से जो कतराते हैं, वह उनके पास नही रहती है।

भौतिक शक्ति मे ही राज्यलक्ष्मी का वास है। दुष्कर कर्म मे हाथ लगाना साहस कहलाता है। जब तक मनुष्य विघ्नो की उपेक्षा कर सत्कार्य सम्पादन मे सोत्साह आत्मसमर्पण नही करता है, तब तक उसे शुभ प्राप्त नही होता है।

व्यसनासक्त मनुष्य ध्यानाभाव से कर्त्तव्यविमूढ हो जाता है।

व्यसनासक्त मनुष्य का बहिर्मुख मन अपनी बहिर्मुखता से कर्त्तव्य के मर्मस्थल म प्रवेश न कर सकने के कारण उसके लिये भीतर से उत्साह न पाकर अपना कर्त्तव्य भूल जाता है।

व्यसनार्तो विस्मरत्यप्रवेशेन।

व्यसनासक्त मनुष्य व्यसनासक्तिजन्य उत्साहहीनता से कर्त्तव्य के मर्म या सम्पत्ति के मार्ग तक न पहुच कर्त्तव्य को भूल जाता है या उसे समझ ही नहीं पाता है। मनु ने आखेट, द्यूत, दिवास्वप्न, परनिन्दा, परचर्चा विषयलोलुपता तथा मद आदि व्यसन गिनाये हैं। राजा या प्रजा प्रत्येक व्यक्ति को इन महादोषो से बचना चाहिए।

नास्त्यनन्तराय कालविक्षेपे।

काल के दुरुपयोग मे निर्विघ्नता नही है। दीर्घसूत्रता (आलस्य) विघ्न उत्पन्न करती है।

कर्त्तव्यो को ठीक समय पर न कर उन्हे टालते चले जाने अर्थात् उनका समय बीत चले जाने से निश्चित रूप से विघ्न आ खडे होते हैं कर्त्तव्यो को टालते रहना अपना काम बिगडने के लिये विघ्नों को बुलाना है। विघ्न का अन्तराय कहा जाता है। विघ्नविजेता मानव ही कर्त्तव्य कर सकता है और उसका फल पा सकता है। जो मनुष्य उचित समय पर काम कर अपने को अपने पुरुषार्थ से निर्विघ्न रखता है, उसके कामो का उचित समय कभी नही चूकता और उसे कभी असफलता का मुह देखना नही पडता। जो काम मे विघ्न न आने देना चाहे, वे कर्त्तव्य का समय न बीतने दें। कर्त्तव्य का काल न बीतने देने म ही कर्त्तव्य की सफलता का रहस्य छिपा हुआ है। विचारशील लोग तब तक अपने पास आने वाले

प्रत्येक क्षण पर सदुपयोग की मुद्रा नहीं लगा देते, तब तक जीवन के एक भी क्षण को बीतने की आज्ञा नहीं देते।

असंशयविनाशात् संशय-विनाश श्रेयान्।

जीवन-संग्राम से विमुख होकर मरने से कहीं अच्छा है कि तत्काल मृत्यु हो जाये। संग्राम विमुख निश्चित मौत से सांग्रामिक मौत मनुष्य के लिये श्रेयस्कर है।

आज या सौ वर्ष पश्चात मृत्यु तो मनुष्य की होनी निश्चित है। इस लिये उस निश्चित मृत्यु का प्रतीक्षक न रहकर धर्मरक्षा करने के लिये उपस्थित संभावित अर्थात अनिश्चित विनाशयुक्त संग्राम क्षेत्र में वीरगति पाने के सुअवसर को न खोकर, अपने अन्तिम श्वासों तक शत्रु के दम्भ को चूर्ण करने के लिये उद्यत रहने में ही वीर जीवन की सार्थकता है। यदि विपत्ति से बचकर भी मरण निश्चित हो तो विपत्ति का साम्मुख्य करते हुए या तो विजय या वीरगति पाना अच्छा है। विपद्विजय के अनन्तर मिली मौत मनुष्य का सौभाग्य है। इस मौत में विजय पाने तथा विजित न होने का आत्मसन्तोष ही तो है।

संग्राम से बचने से मौत से नहीं बचा जा सकता। जिस अनिवार्य मौत से बचा ही नहीं जा सकता उस मौत का विजयी मन से आह्वान करने से ही मानव-जीवन सफल होता है और यही मौत को व्यर्थ बना डालना या मृत्युंजय बनना भी कहलाता है। मृत्युंजय बनना ही वीर पुरुषों का एकमात्र ध्यान है। अवीरोचित आत्मप्रतारणा कर जीवनरक्षा के नाम से या युद्ध स्थल से भाग निकलने का समर्थन करना इस सूत्र का अभिप्राय नहीं हो सकता है।

परधनानि निक्षेप्तु केवलं स्वार्थम्।

दूसरे के धन को धरोहर रूप में रखने वाला यदि धरोहर रखने के साथ स्वार्थभेद और दूसरे के प्रति अपना कोई उत्तरदायित्व नहीं समझता होगा तो वह निश्चित रूप से प्रत्येक समय अपना स्वार्थ ही साधता रहता है।

,धरोहर रखने वाले के साथ भेदबुद्धि रखकर अर्थात् उसे केवल अपना स्वार्थ निकालने का साधनमात्र समझकर और अपने पर उसका कोई उत्तरदायित्व न लेकर व्यक्तिगत या राष्ट्रीय धरोहर रखने वाले स्वार्थी लोगों का केवल स्वार्थपूर्ण दृष्टिकोण रहता है।

* राजधर्म के प्रसंग में इसका सूत्रार्थ प्रकार होगा—राष्ट्र के राज्याधिकार को धरोहर रूप में अपने उत्तरदायित्व में लेने वाले राज्याधिकारी यदि अपनी परायी भेदबुद्धि रखते होंगे और राष्ट्रीय कार्यों को परायी धरोहर समझते होंगे, तो यह निश्चित है कि वे उसमें से केवल अपना ही स्वार्थ खोजते रहेंगे और उस राज्याधिकारी को भ्रष्टाचार का आगार बना डालेंगे। यह सुनिश्चित है। राष्ट्र राष्ट्रीय धरोहर अपने पास रखने वालों के व्यक्तिगत स्वार्थों की ओर से पूरा सचेत रहे और राज्यसंस्था को उनका व्यक्तिगत स्वार्थ पूरा होने के काम में न आने दे।

दान धर्म ।

दान अर्थात योग्य पात्र की सहायता करना धर्म मनुष्य का स्वाहित-कारी कर्त्तव्य है।

` सत्य के हाथों में आत्मदान किये रहने वाले दाता तथा प्रतिग्रहीता का सत्यार्थ व्यवहार विनिमय ही सच्चा दान है। धनार्थी सुपात्र को ही धन का सच्चा स्वामी जानकर देयमान धन को अपने पास रखी हुई योग्य पात्र की धरोहर मानकर, उसकी धरोहर उसी को सौंप देना, दान की परिभाषा या दान की आत्मा है। किसी संसारी लाभ की दृष्टि से किसी को कुछ धन या भोजन, वस्त्रादि दे देना दान की आत्मा नहीं है। दाता के घमंडी आसन पर बैठे रहने और दान का कुछ विनिमय चाहते रहने से दान का स्वरूप प्रकट नहीं होता। दान की आत्मा तब पूरा होती है, जब वह दाता से आत्म-दान करा लेता है। जो मनुष्य अपना दातापन भूल जाता है और कार्यार्थी होकर आने वाले को ही स्वाधिकारान्तर्गत वस्तु का यथार्थ स्वामी जानकर अर्थात् उस पदार्थ को उसी की धरोहर मानकर ऋणमुक्त होने की भावना के साथ दान करता है, उसके मन से दाता और प्रतिग्रहीता का भेद ही गायब हो जाता है। यही दान का सच्चा रूप होता है।

` कुछ पुस्तकों में यह सूत्र अधिक है।

अपरधनानपेक्ष केवलमथ दान श्रेय ।

बदले में दूसरे से कुछ पाने की अपेक्षा न रखकर नि स्वार्थ शुद्ध दान ही श्रेष्ठ अर्थात कल्याणकारी होता है।

नार्यागतो थवृद्धिपरीतोऽनर्थभाव ।

अनार्य (अज्ञानी) समाज में प्रचलित परम्परागत अथ आचरण ही मानव जीवन नाशक अनर्थ है। इनसे बचने म ही मानव-जीवन की साथकता है। उन्नति इच्छुक मनुष्य रुचि विरुद्ध नृत्य, गायन, जुआ, वेश्यावृत्ति, खेल-तमाशा स अलग रहे। बदले मे उपकार पाने की आशा न केवल कर्त व्यबुद्धि से देश, काल पात्र देखकर दिया हुआ दान, शुद्ध सात्विक दान है। प्रत्युपकार के लिये या फलभावना से तथा क्लेशपूर्वक दान राजस दान है। अदेश अकाल तथा अपात्र को असत्कार और अवज्ञा के साथ दिया दान तामस दान माना गया।

कुछ पुस्तकों म यह सूत्र अधिक है।

न्यायागतो थ ।

न्याय और समाज समस्त उपायों मे अर्जित धन ही वास्तविक धन है। अन्याय अनीति से जो धन प्राप्त किया जाता है, वह अनैतिक और अस्थायी होता है। इस प्रकार का धन व्यर्थ भी जाता है।

कुछ पुस्तकों म यह सूत्र अधिक है।

तद्विपरीतो र्थाभास ।

हीन (नीच तस्करी द्यूत भ्रष्टाचार आदि) निम्नकार्यों से प्राप्त धन अनर्थ करता है। इसका उपयोग करन वाला परिवार कभी सुखी नहीं रहता है।

इसका उपयोग शारीरिक पीडाएं ही उत्पन्न करता है
इस सूत्र का एक रूप तद्विपरीता नस्थवी भी है।
अन्याय मार्ग स धन उपार्जन करने वाला मनुष्य निश्चित रूप स अध पतित होकर अवश्य हानि उठाता है।

यो धर्मार्थौ न विवधयति स काम ।

जो धम, अथ दोना की वृद्धि न करे वह काम है।

इस पाठ म अथ सगति का अभाव है। पीडयति पाठा तर म अथसगति इससे यह अपपाठ माना गया है।

इस श्लोक का एक रूप या धर्मार्थौ न पीडयति स काय' भी है।

जो काम मानवोचित धम तथा मानवोचित अथनीति दोनो मे से किसी भी विकृत नही करता, वही स्वीकरणीय काम है।

यथाय 'काम' वही है, जो धम और अथ दानो मे से किसी को बाधा न हानि न पहुचाये। धम अर्थात अनपहरण या दूसरा के अधिकार पर क्रमण तथा अथ अर्थात धमपूवक उपार्जित जीवन साधनो का विराध घात न कर बटन वाल, समाज की शान्ति के सरक्षक सुखोपभाग ' कह गये हैं।

धम, अथ तथा काम य नीतिज्ञो के त्रिवग या तीन पुरुषाथ हैं। थकामा सममेव सेव्या '। धम, अथ तथा काम तीनो को स तुलित सेवन करना चाहिये। इन तीनों मे पारस्परिक सहकारिता और घातकता रहनी चाहिए।

कुछ पुस्तको मे यह अधिक सूत्र है—

तद्विपरीता कामाभास ।

अधर्मों का उत्पादन तथा अथ नीति का विनाशक काम आपातत सुख होन पर भी अतृप्तिजनक शान्तिघातक दु ख ही है।

इस उच्छृखल काम से मानव की भोगेच्छाओ का सबध तो है इसके साथ मानव के कल्याण और शान्ति का कोई भी सबध नहीं से अधमजनक अथनाशक तथा अशान्त्युत्पादक काम से मानव का ही होता है। अपना अनिष्ट करने वाली वस्तु की इच्छा काम नही, म है। इसी प्रकार दूसर का अनिष्ट करने की इच्छा भी काम नहीं,

तद्विपरीतोऽनर्थसेवी ।

धर्मार्थाविरोधी काम से विपरीत कामना करने वाला मनुष्य अपने जीवन को व्यर्थ करता, समाज में अशान्ति उत्पन्न करता तथा समाज की शान्ति की शृंखला को नष्ट कर देता है।

सत्पुरुष के साथ निष्कपट निर्व्याज, सभ्य बर्ताव करने वाला, कर्त्तव्यपालनमात्र पर दृष्टि रखने वाला ऋजु व्यक्ति मनुष्यों में दुर्लभ होता है। संसार में सचाई से ही सचाई का विनिमय देने वाले व्यक्ति भी होते हैं।

ऋजुस्वभावपरो जनेषु दुर्लभः ।

सत्पुरुषों के साथ सचाई से बर्ताव करने वाला शुद्धबुद्धि मनुष्य अनिवार्य रूप से सत्य का तो पक्षपात तथा असत्य का विरोध करने वाला होता है। उसकी ऋजुता उसे असत्य का विरोध करने से रोकने वाली दिखावटी ऋजुता नहीं होती है। वह असत्यारूढ परिचितों को क्षणभर में अपरिचित के समान त्याग देता है। वह किसी दूसरे के लिये ऋजु नहीं है।

इस श्लोक का एक रूप 'ऋजुस्वभाव परिजनो दुर्लभ' भी है।

ऋजुस्वभाव वाले सेवक प्रजावर्ग तथा पारिवारिक लोग दुर्लभ होते हैं। ऐसे लोग किसी भी राष्ट्रसंस्था या परिवार के प्राण तथा सौभाग्य होते हैं। ये मानव समाज के सामने अपने व्यावहारिक जीवन द्वारा उनके जीवन का आदर्श उपस्थित कर देते हैं। किसी राजा के ऐसे राजकर्मचारी हों, किसी समाज में ऐसे लोग हों, किसी परिवार के पारिवारिकों में ऐसे स्वभाव वाले व्यक्ति हों, तो उसकी यशोवृद्धि के साथ-साथ कार्यसिद्धि भी अवश्यभाविनी होती है। जिस राज्य में ऐसे सेवक नहीं, जिस समाज में ऐसे लोग नहीं, जिस परिवार में ऐसे सदस्य नहीं उसके सब काम विपत्तियों से घिरे रहते हैं।

माता पिता गुरु, पत्नी, प्रजा, दीन आश्रित, अभ्यागत, अतिथि तथा अग्नि ये सब परिजन कहे गये हैं। यह समस्त विश्व एक विराट परिवार है। प्रत्येक मानव इस विराट परिवार का पारिवारिक है। उसे अपने इस

विश्व परिवार मे अपना अहकारी आपा खोकर ऋजुता से व्यवहार करना उचित है।

अवमानेनागतमैश्वर्यमव मन्यते साधु ।

साधु अर्थात सत्यनिष्ठ कर्त्तव्यपालक ऋजु व्यक्ति वह है, जो अपनी साधुता पर कलक लगा देने वाले उत्कोच आदि गर्हित ढग से आने वाले ऐश्वर्य को तृण के समान अस्वीकार कर देता है।

सत्यनिष्ठ लोग अपयश फैलाने वाले अपमान से मिलने वाले ऐश्वर्य को तण के समान अस्वीकार कर देते हैं। वे उस ऐश्वर्य से अपने चरित्र पर कलक लगता तथा अपने सम्मान की हानि देखकर तो उसे किसी भी रूप मे स्वीकार नही करते हैं। "मानो हि महता धनम।" मान ही महापुरुषो का धन है। वे अपने मान की रक्षा अपने प्राणो से भी करते हैं। ये स्वाभिमान के साथ अपने न्यायगत धन से सन्तुष्ट रहकर अपने मान-धन की रक्षा कर निधन जीवन बिताने का सौभाग्य मानते और इसी मे स्वाभिमान का अनुभव करते हैं।

बहूनपि गुणानेको दोषो ग्रसति ।

मनुष्य का एक भी दोष बहुत से गुणो को दोष बना डालता है।

एक दोष दूसरे गुणो को छुडवा देता है। मनुष्य मे एक भी दोष होना सिद्ध कर देता है कि दूसरे गुण, गुणो का दिखावा ही दिखावा है। वे गुण उस दोष जैसे ही अनिष्टकारी है। गुण-दोषो का वध्यघातक भाव होने से दोनो का एकत्रावास असभव है। जिसमे एक भी दोष है, उसमे कोई भी गुण नही है। गुण, दोष दोनो का ही यह स्वभाव है कि ये यूथभ्रष्ट होकर नही रहते हैं। इसलिए दोष का सपूर्ण बहिष्कार कर रखने मे ही मानव का कल्याण या निर्दोषता सभव है। किसी कवि के शब्दो मे 'एकोहि दोषो गुणराशिनाशी।' एक भी दोष मनुष्य की गुणराशि का नाश कर डालता है। यदि किसी शासक या राजकर्मचारी मे राजशक्ति के दबाव से व्यक्तिगत धन बटोरने की प्रवृत्ति है, तो उसके अन्य समस्त गुण नपुसक हो जाते हैं।

इस श्लोक का एक रूप 'बहूनपि गुणानेको दोषो ग्रसत' भी है।

महात्मना परेण साहस न कर्तव्यम् ।

बड़े बनने के इच्छुक लोग दूसरों के बल पर साहस नहीं करते, वह सदा अपने बल पर कार्य करते हैं।

उनमें स्वयं इतना साहस होता है।

इस श्लोक का एक रूप 'महता साहस न परेण कर्त्तव्यम' भी है।

अधिक शक्तिशाली शत्रु के साथ सग्राम के अवसर पर साहस अर्थात निर्बुद्धिता न करे।

दुष्ट शत्रु अपनी भौतिक शक्ति के घमंड में आकर ही सत्यनिष्ठ धार्मिक पर आक्रमण करता है। सत्यनिष्ठ धार्मिक के लिये केवल भौतिक शक्ति का भरोसा करना निर्बुद्धिता है। उसे उस समय उपायान्तरों से काम लेकर आत्मरक्षा करनी चाहिये। उसके पास विश्वविजयिनी बुद्धिशक्ति स्वभाव से रहती है उसे कौशल से ही शत्रु विजय करना चाहिये। शत्रु दमन के लिये जिस समय जिस अस्त्र का प्रयोग करना उचित होता है वही उसका सत्यनिष्ठारूपी रणकौशल हो जाता है।

कदाचिदपि चरित्र न लघयेत् ।

मनुष्य काम, क्रोध आदि विकारों की अधीनता स्वीकार कर अपने चरित्र स्वभाव-स्वधर्म मानवीय कर्त्तव्य के विपरीत कोई ऐसा काम न कर बैठे कि वह जीवनभर हृदय में चुभने वाला काँटा बन जाय।

मनुष्य अपनी सुशीलता, सज्जनता और चरित्र को न त्यागे। सज्जनता, सुशीलता, सच्चारित्र्य इस अपार संसार सागर में तरने वाले मानव के निष्कपट साथी माता, पिता, बन्धु, बान्धव सर्वस्व होते हैं। अपने चरित्र की रक्षा मानव का सबसे महत्वपूर्ण काम है। दण्डी ने कहा है— सर्वदा सर्वयत्नेन चरित्रमनुपालयेत्' मनुष्य अपना समस्त प्रयत्न करके अपने चरित्र की रक्षा करे। 'शीलेन सर्व जगत' शील एक ऐसा दिव्य साधन है कि समस्तसंसार पर वशीकार प्राप्त हो जाता है। चरित्र

लघन से ससार से मनुष्य का विश्वास उठ जाता है। इस ससार में सच्चरित्र को ही आदर मिलता है।

क्षुधार्तो न तृण चरति सिह।

जिस प्रकार सिह भूख से व्याकुल होने पर भी घास नही खाता है (मास ही खाता है।) उसी प्रकार चरित्रवान कभी भी सकट काल मे भी सत्य को नही त्यागते हैं और न ही अपनी तेजस्विता को। वह अपना सम्मान बनाये रखते हैं।

इस श्लोक का एक रूप 'न क्षुधार्तोऽपि सिह्मस्तृणचरित' भी है।

प्राणादपि प्रत्ययो रक्षितव्य

मनुष्य अपने प्राणो को भी सकट मे डालकर राष्ट्र की और अपनी नागरिकता की रक्षा करता है। वह अपने जीवन मे इसे मुख्य स्थान देता है।

पिशुन श्रोता पुत्रदारैरपि त्यज्यते।

सुनी हुई गुप्त बातो के आधार पर लोगो मे लडाई झगडा करने वाले व्यक्ति को (विश्वासघाती को) उसका परिवार भी त्याग देता है। यदि उसे न त्यागे तो आपसी विपदा आ सकती है। चुगलखोरी (पिशुनता) एक प्रकार का मानसिक पाप है।

बालादप्यर्थजाद श्रृणुयात्।

नगण्य (महत्वहीन) व्यक्तियो की भी उपयोगी बातें सुन लेना चाहिए। बालको से भी उचित बात सीखी जा सकती है। उसे भी श्रद्धा के साथ स्वीकार करना चाहिये।

सत्यमप्यश्रद्धेय न वदेत्।

सच बात भी अगर किसी श्रोता को कटु लगती है, तो मत कहो। बात का अपमान होता है

गत्य मे अश्रद्धालु को सत्य से लाभ पहुंचाने की भ्रान्ति करना उसमें झगड़ा मोल लेना है। यदि तुम्हारा विवक्षित सत्य तुम्हारे श्रोता की श्रद्धा न पा सके या उसे अनावश्यक लगे तो मत कहो, मनुष्य अपात्र के समक्ष सत्य का प्रचार कभी न करे। सत्य सुनाना या गत्यप्रेमियों की दृष्टि से श्रद्धा पाता है। सत्य सुपात्र की दृष्टि में कभी अश्रद्धेय नहीं होता। श्रद्धालु से सत्य कहने में ही सत्य की उपयोगिता है। अश्रद्धालु से गत्य कहना भैंस के सामने बीन बजाना है। अनावश्यक सत्य वचन वक्ता की विचारशून्यता होने से वह व्यर्थ भाषण हो जाता है। मिथ्या अनावश्यक होना ही व्यर्थ बात की व्यर्थता का स्वरूप है। औचित्य से वचन की सत्यासत्यता का निर्णय किया जाता है। अकाल तथा अपात्र में प्रयुक्त सत्य वचन भी असत्य वचन जितना ही अनिष्टकारी होकर असत्य बन जाता है। सत्य या असत्य, बातों या शब्दों में सीमित न होकर उद्देश्य में सीमित रहता है। अतएव उद्देश्य से ही सत्यासत्य को जाना जा सकता है।

कुछ पुस्तकों में यह सूत्र अधिक है—

अग्निमिच्छता धूपस्त्यज्यते।

जैसे धूप और अग्नि का नित्य साहचर्य होने से अग्निसंग्रहार्थी लोगों से धूम्र से नहीं बचा जा सकता है उसी प्रकार सत्य और अश्रद्धेयता का नित्य साथ होने से सत्य की रक्षा करने के इच्छुक उसे अश्रद्धेयता दोष से मुक्त नहीं कर सकते हैं।

उन्हें सत्य की अश्रद्धेयता का ध्यान रखकर उसे बचा-बचाकर सत्य की प्रतिपालना करनी पड़ती है। सत्य के साथ अश्रद्धेयता तथा अमान्यता नियम से लगी रहती है। साधारण लोग को अव्यवहार्य आदर्श कहकर उससे बच जाते हैं। सत्य का यह अनादिकालीन दूषण है कि वह सर्वसाधारण को अपने लिये हानिकारक और प्रतिकूल लगता है।

सत्य के साथ जैसे अश्रद्धेयता का दूषण लगा है, उसी प्रकार उसके साथ कटुता और तेजस्विता नाम के दो ऐसे कठोर स्वभाव संयुक्त हैं, जो सत्य का पातित्यप्रेमी सर्वसाधारण प्रिय नहीं बनने देते। सत्यप्रेमी को सत्य के साथ उसकी तेजस्विता और कटुता भी विवश होकर अपनानी पड़ती

है। सत्य असत्य प्रेमियो को अवश्य ही कटु और अग्राह्य लगाता है। सत्य असत्यप्रेमी की भूलो या भ्रान्त धारणाओ पर मर्मभेदी घातक प्रहार करने-वाला होने से सदा ही उसके अप्रेम और अस्वीकृति का भाजन बना रहता है। सत्यप्रेमी कुछ थोडे से लोग ही उसकी तेजस्विता और कटुता को सहार सकते है। 'अप्रियस्य च पथ्यस्य वक्ता श्रोता च दुर्लभ ।' कटु सत्य के श्रोता और वक्ता दोनो ही दुर्लभ होते हैं। ऐसे ही लोग सत्य सुनने और सुनाने के यथार्थ अधिकारी होते है। सत्य की कटुता मानने वाले लोग सत्य के अधिकारी हैं।

नाल्पदोषाद् बहुगुणास्त्यज्यन्ते ।

किसी के साधारण दोष को देखकर उसके महत्वपूर्ण गुणों को अस्वीकार नही करना चाहिये।

किसी मे कुछ साधारण दोष दीखे, तो उसके अनेक महत्वपूर्ण गुणो की उपेक्षा न करनी चाहिये। यदि सच्चे गुणी मनुष्य का कोई व्यवहार दूषित लगता हो या न रुचता हो, तो यह निश्चय है कि यह गुणी के चरित्र को न समझने का दोष है। जब उस पर शान्त काल मे निरपेक्ष विचार होगा तो स्पष्ट रूप से समझ मे आ जायेगा कि वास्तव मे उसका दोष नहीं है। वह उसी गुणी की देशकालपात्रानुसारिणी व्यवहार-कुशलता ही है। दोष और गुण दोनो ही यूथचारी हैं। ये यूथभ्रष्ट होकर नहीं रहते। जहा एक गुण होता है, वहा सभी गुण आकर इकट्ठे होते हैं।

व्यक्ति का मूल्य उसके सम्पूर्ण आचरण देखकर ही आकना चाहिए। अंशमात्र से उसका सही मूल्याकन नही होता है।

विपश्चित्स्वपि सुलभा दोषा ।

स्थूल दृष्टि से ज्ञानी के भी व्यवहार मे दोष निकलना सहज होता है। विद्वान पुरुषो मे भी दोष पाये जाते हैं।

ससार मे ऐसा कोई मनुष्य नही है, जो सर्वथा दोषरहित हो। यदि सज्जन मे साधारण दोष है, तो उसकी अवहेलना कर देनी चाहिए।

नास्ति रत्नमखण्डितम् ।

जैसे प्रत्येक रत्न म मलिनता, विषमता आदि कोई न कोई त्रुटि निकाली जा सकती है, जस सवजात्युत्कृष्ट मणि भी सवथा निर्दोष नही होती, विद्वानो की भी शारीरिक ऐन्द्रियिक भूलें पकडी जा सकती है।

जैसे रत्न का दोष निकालकर अर्थात् उसे उस दोष से अलिप्त करके ही उसकी अकृत्रिमता प्रतिष्ठित होती है, जसे पहल रत्न मे कृत्रिमता का आरोप करके, पीछे स उसका अपवाद बना उसे अकृत्रिम सिद्ध किया जाता है, इसी प्रकार सच्चे विद्वानो पर किया दोषारोपण अत मे उन्ह निर्दोष घोषित करने वाला बन जाता है।

जैसे कोई भी रत्न अखण्डित नही रह पाता है। जैस उस कोई कोई खण्डित करने वाला मिल ही जाता है, इसी प्रकार धार्मिक श्रेष्ठ विद्वानो को भ। कोई न कोई निन्दक मिल ही जाता है। जैसे खण्डित होना रत्नापराध नही है, इसी प्रकार धार्मिक विद्वान का अधार्मिक अविद्वानो से निन्दा पा जाना विद्वान का अपराध नही है निन्दक का ही धमद्वेष या अज्ञान है।

मर्यादातीत न कदाचिदपि विश्वसेत ।

जो सामाजिक नियमो का उल्लघन करता है उसका विश्वास कभी नही करना चाहिए। ऐसा व्यक्ति कब क्या कर बैठे, क्या पता'

अप्रिये कृत प्रियमपि द्वेष्य भवति ।

शत्रु के मीठे दीखन वाले बर्ताव मे भी सावधान रहे। वह कभी भी अवसर देखकर बदला ले सकता है। उसके इस प्रकार के व्यवहार को द्वेष मानना चाहिय।

नमन्त्यपि तुलाकोटि कूपोदकक्षय करोति ।

जसे सिर झुकाकर नम्रतापूवक कूप म घुसन वाली ढीकली उसका पानी रिता दती है इसी प्रकार स्वार्थी लोगो का दिखावटी शिष्टाचारयुक्त भाषण करता देखकर उन्हें लूटन क लिय ही आन वाल प्रच्छन्न लुटेरे मानकर उनके मायाजाल स बचना चाहिय।

जैसे चोर का रामनामी दुपट्टा भी चोरी ही का साधन होता है, इसी प्रकार दुष्टों की नम्रता और उनके गुण दुष्टता के ही साधन या अंग होते हैं। शत्रुओं या दुष्टों की नम्रता विश्वास करने योग्य नहीं होती, उनसे सदा ही सावधान रहना चाहिये।

इस प्रसंग का एक रूप नमत्यपि तुलाकोटि कूपस्योदकक्षयं करोति भी है।

सतां मतं नातिक्रामेत्।

अनुभवी सत्पुरुषों के सिद्धान्तों के विरुद्ध आचरण न करें।

मनुष्य का अपना विवेक ही उसकी कर्त्तव्याकर्त्तव्य की समस्या का अन्तिम समाधान करने वाली वस्तु है। मनुष्य बड़े से बड़े अनुभवी विद्वानों की बात को केवल उस अवस्था में मानता है, जब वह बात उसके विवेक को स्वीकृत हो जाती है। यदि उसका विवेक उसे स्वीकार न करे, तो वह किसी की भी बात मानने को प्रस्तुत नहीं होता। सबका अनुभव साक्षी है बात अपने मन या विवेक के अनुकूल होने पर ही मन्तव्य कोटि में आती है। मनुष्य दूसरे व्यक्ति का अनुसरण करता दीखने पर भी वास्तव में अपना ही अनुसरण करता है। विवेक ही मानव हृदय में सच्चे मार्गदर्शक सत्पुरुष का रूप लेकर रहता है।

गुणवदाश्रयान्निर्गुणोऽपि गुणी भवति।

निर्गुण दिखने वाला भी गुणवान् के संसर्ग में रहता-रहता गुणी हो जाता है। विवेकी के अनुभवहीन होने पर भी यदि वह अनुभवी लोगों के संसर्ग में रहे तो अनुभवी बन जाता है।

विद्वत्ता, शूरता, महत्ता, चिन्ताशीलता आदि मानवोचित गुण हैं। इन गुणों से संपन्न गुणी के संपर्क में रहने वाला गुणप्रेमी व्यक्ति उसके वातावरण का अंग बनकर रहे उसे अपने आपको सुधारने के लिए सौंपकर, उसे अपनी भूलों पर रोकने टोकने का अबाध अधिकार देकर उसी जैसा गुणी चतुर, व्यवहारकुशल तथा विचारक बन जाता है।

क्षीराश्रित जल क्षीरमेव भवति।

जिस प्रकार जल दूध मे मिलन पर दूध बन जाता है, उसी प्रकार गुणी हाथो मे हाथ देने वाला भी गुणी बन जाता है।

गुणप्रेमी व्यक्ति ही गुणी का सगी और गुण का अन्वेषी होता है।

मत्पिण्डोऽपि पाटलिगन्धमुत्पादयति।

मिट्टी का ढेला भी सुगधित फूलो के गिरने स ही उनके समान सुगधि वाला हो जाता है, उसी प्रकार दुजन पुरुष भी गुणी के सपक मे आकर गुणवान बन जाता है।

निगध मिटटी भी अवसर मिलन पर अपने भीतर से सुगध भरे पुष्प उत्पन्न कर देती है।

इसी प्रकार गुण दिखाने का अवसर मिलन पर गुणी लोगो के गुण छिपे नही रहते हैं। मिट्टी सुगधित कुसुमो को अकुरित करन का अवसर आने पर अपनी सुगधोत्पादक शक्ति प्रकट करती है। गुणियो के गुण सच्चे गुणग्राहियो के सपक मे आने पर ही प्रकट होते हैं।

रजत कनकसगात् कनक भवति।

जैसे चादी, सोने के साथ मिश्रित हो जाने स वह मिश्रित वस्तु सोना ही बन जाती है, चादी नही रहती।

जसे सान के साथ मिलते ही उसके चादीपन का अन्त हो जाता है इसी प्रकार महत्वयुक्त मनुष्य से सबद्ध होने पर अनुभवहीन गुणग्राही व्यक्ति गुणानुभव-सपन्न हो जाया करता है।

इस श्लोक का एक रूप 'रजनमपि कनकसपर्कात् कनकमेव भवति' भी है।

उपकर्तयपकर्तुमिच्छत्यबुध।

मन्दमति क्रूर अज्ञानी अपने बुद्धिदोष अर्थात् हिताहित-विवेकहीनता से हितकर्ता को भी हानि पहुचाकर अपना नीच स्वार्थ सिद्धि करन से विमुख नहीं होता है।

अपकारस्वभाव वाला मनुष्य उपकार का बदला अपकार से ही दिया करता है। मनुष्य से अपना स्वभाव नही छूटता है। इसलिये अज्ञानियो का हित करने की भ्रान्ति करने वाले लोग उनके इस उपकार के बदले मे अकृतज्ञता अर्थात शत्रुता करने के दूषित स्वभाव से पूर्ण परिचित होकर सावधान रहे। वे इस भ्रम मे आकर गलती न करें कि "हम तो इनका उपकार कर रहे हैं। इसलिये इनकी ओर से अनिष्ट की कोई सभावना नही है, प्रत्युत इष्ट की सभावना है। हम उन्हे उपकारो के बदले मे अपनाकर अपना बना लेगे।

कुछ पुस्तको मे यह अधिक श्लोक भी है।

तद्विपरीतो बुध ।

ज्ञानी लोग उपकर्ता के भी उपकारक अज्ञानियो से विपरीत आचरण करने वाले होते हैं। उन्हे उपकर्ता का प्रत्युपकार किये बिना शान्ति नही पडती है।

न पापकर्मणामाक्रोशभयम्

पापियो को निन्दा का भय नही हुआ करता है।

पापी लोग कुछ सीमा तक अपने को लोकनिन्दा से बचाते है किन्तु जब लोकनिन्दा की उपेक्षा करके प्रसिद्ध पापी बन जाने मे अधिक लाभ देखते है, तब लोकनिन्दा का भय त्याग कर पापी प्रसिद्ध बनने मे सकोच नही करते। उनकी प्रवृत्ति हीन हो जाती है। पापी को निन्दा का भय तब ही होता है, जब उसे उस निन्दा से दण्डित भी होना पड जाता है।

लोकमत राजा से भी अधिक शक्तिमान होता है। लोकमत राजशक्ति का या तो निन्दक या प्रशसक बनकर अपनी शक्ति का प्रदर्शन किया करता है। वह इसी रूप मे राजा से भी अधिक शक्तिमान होता है। राजा की शिष्टता या दुष्टता का पूर्ण परिचय राजशक्ति हाथ मे आने पर ही मिलता है। शक्तिहीन व्यक्ति लोकमत मे सामने निन्दित होने के साथ ही राजदण्ड से दण्डित भी हो जाते हैं। नागरिको मे राजदण्ड के भय से पाप से

बचकर दण्ड से बचे रहने की प्रवृत्ति स्वभाव से होती है। पापी नागरिक समाज की शान्ति का हरण करने वाले तथा लोगो के व्यक्तिगत शत्रु हो जाते हैं। लोकमत की प्रतिनिधि राजशक्ति ही उन्हे इस कम से रोकती है परन्तु ऐसे राज्याधिकारी समाज के सार्वजनिक शत्रु होते हैं, जो लोकमत की अपेक्षा कर राजशक्ति को शान्ति-स्थापना के काम मे न आने देकर, उसका समाज की शान्ति-हरण मे दुरुपयोग करते हैं। पापी राज्याधिकारियो से प्रोत्साहन पाने वालो को पाप से रोकना तब तक सभव नहीं होता, जब तक कि पहले पापी राज्याधिकारियो को पूर्णतया दण्डित न कर दिया जाय।

इस श्लोक का एक रूप 'न पाप कर्मणा सन्नोशभयम' भी है।

उत्साहवता शत्रवोऽपि वशीभवन्ति।

दुर्दान्त शत्रु भी उत्साह वालो के वश मे आ जाते हैं।

उत्साह भौतिक शक्ति नहीं है। मनोबल उत्साह है। मनोबल भौतिक शक्ति पर निर्भर न रहकर सत्यनिष्ठा मे ही रहता है। सत्य की शक्ति से शक्तिमान व्यक्ति अजेय हो जाता है।

जनता सुदृढ रूप से सगठित होकर ही उत्साही राजा को बलवान बनाने मे समर्थ हो सकती है। जो राष्ट्र उन्नति करना चाहे, उसे चाहिये कि वह अपने व्यक्तियो मे उत्साह भर देने की योजना बनाये।

विक्रमधना राजानः।

ज्ञानदीप्त तेजस्विता ही राजा का धन होता है।

ज्ञानदीप्त तेजस्विता ही राजा के प्रजारजन का अव्यर्थ साधनरूपी अक्षय धन है। राष्ट्र प्रबंध सबधी विचारो की प्रखरतारूपी प्रदीप्त ज्ञानसूर्य ही राजा का सच्चा तेज या विक्रम है। ज्ञानी राजा ही सच्चे ऐश्वर्य से सम्पन्न राजा है। अज्ञानी राजा प्रजा की घृणा का पात्र हो जाने के कारण राजसिंहासनारूढ दीखने पर भी राज्यभ्रष्ट है। जैसे पैसा साधारण मनुष्य का भौतिक साधन समझा जाता है, इसी प्रकार सत्यरूपी विक्रम ही विज्ञान योग्य राजा का धन है। सच्चा विजिगीषु राजा प्रजा के चित्तपर

अपने सत्य का प्रभाव डालकर उसके हृदय का सम्राट बन जाता है। सच्चे राजेपुरुष सत्यधन से धनवान होना अनिवार्य है। सत्यहीन राजा प्रजा की घृणा का पात्र तथा उसके प्रेम से वंचित होकर अन्त मे राज्य से भी च्युत हो जाता है।

नास्त्यलसस्यैहि कामुष्किम्।

कार्य मे अनुत्साही अकर्मण्य मन्दमति आलसी को वर्तमान तथा भविष्यत्कालीन सफलता नहीं मिलती है।

वर्तमान की सफलता ही अतीत को भी सफल कर डालती और भविष्यत की सफलता को भी सुरक्षित कर देती है। जिसका वर्तमान सुर- क्षित होता है उसके भूत भावी दोनो का सफलता से मडित होना और रहना निश्चित है। तीनो कालो में एक-सा समुज्ज्वल रहने वाला सत्य ही विक्रमी राजा की राज्यश्री है। पराक्रम के आश्रय से रहने वाली समृद्धियाँ भीरुता या विषाद के साथ नही रहती हैं।

निरुत्साहाद् दैव पतित।

उत्साह के बिना निश्चित सफलतायें भी हाथ से बाहर ही रह जाती हैं। इस ससार की स्थिति ही ऐसी है कि सत्यनिष्ठ को असत्यविरोध के सग्राम-क्षेत्र मे योद्धा के रूप मे शस्त्रबद्ध होकर अविरत नियुक्त रहना पडता है। सत्यनिष्ठ व्यक्ति इस सग्राम को विपन न समझकर उसका उत्साह के साथ सौभाग्यबुद्धि से स्वागत करता है। सत्यहीन व्यक्ति को असत्य से सग्राम ही विपत्ति दीखती है। इसलिय असत्यविरोध को विपद मानने वाला व्यक्ति अपने को असत्य की दासता मे ही निरापद माना करता है। उत्साहहीनता असत्य की ही दासता है। सत्यनिष्ठ उत्साहीनता के हृदय म विपद्भीति नाम की कोई स्थिति नही होती है।

जीवन सग्राम मे वही सफलता प्राप्त करते हैं, जो इस पर दृढतापूर्वक अमल करते हैं।

इस श्लोक का एक रूप 'निरुत्साहो दैव परिदापति' भी है।

मत्स्यार्थीव जलमुपयुज्यार्थं गृह्णीयात् ।

जिस प्रकार मल्लाह (मछेरा) जल मे प्रवेश के सकट का सामना कर मछली पकडता है, उसी प्रकार पुरुषार्थी मनुष्य भी सकट मे कूदकर सफलता रूपी अपने देव को विघ्नों से बचाकर सुरक्षित रखता रहता है, अपना काम बना लेता है। विघ्नो को हटाकर अपना काम बनाना चाहिए।

अविश्वस्तेषु विश्वासो न कर्त्तव्य ।

अपरीक्षित या अपात्र लोगो का विश्वास कभी न करो।

करोगे तो निश्चित रूप से हानि होगी। कुपात्र से सदा भय रहता है कि न जाने कब क्या कर बैठे।

मनुष्य दुष्ट मित्र का विश्वास तथा कुदेश मे जीवन की सुरक्षा की आशा न करे। कुराजा और कुपात्र से हमेशा भय बना रहता है

असत्सग विजयी जीवन का विघ्न तथा विनाशक विपत्तियो का कारण होता है।

इस श्लोक का एक रूप 'अविस्त्रबधेषु विश्वासो न कर्त्तव्य' भी है।

विष विषमेव सर्वकालम् ।

विष सदा विष ही रहता है। यह कभी अमृत नहीं हो सकता है। जिस प्रकार विष का स्वभाव (गुण) नही बदल सकता है, उसी प्रकार अविश्वासी स्वभाव वाला मनुष्य भी कभी विश्वास योग्य नही बन सकता है।

अर्थसमादाने वैरिणा सग एव न कर्त्तव्य ।

कार्य सपादन करते समय शत्रुओं से किसी प्रकार का सपर्क बिल्कुल न रखना चाहिए।

इस श्लोक का एक रूप 'अथ सामान्ये वैरिणा ससर्गो न कर्त्तव्य' भी है।

सामान्य प्रयोजन वाले कार्यों मे वैरियों के सपर्क से बचना चाहिए। कुछ पुस्तको मे यह सूत्र अधिक है।

आर्यार्थमेव नीचस्य ससर्गं ।

आर्य अर्थात् प्रभु के कार्य के लिये ही नीचों से सबध किया जा सकता है। राज्यसस्था मे राजा प्रभु का स्थान लिये हुए है क्योंकि राजा भी तो एक प्रभु है। समग्र राष्ट्र का प्रभु राजा है। राष्ट्र—कल्याण के लिये राजा तथा राज्य के अन्य सेवको का कभी न कभी नीच के साथ सबध होना अनिवार्य होता है। उस विकट सबध के समय भी प्रजा-हित को मुख्यता देकर उसे सुसपन्न बनाये रखना ही सच्ची सेवा का उद्देश्य होता है। उस समय उसका कर्त्तव्य होता है कि उसके किसी काम से नीच की नीचता को भूलकर भी प्रोत्साहन न मिल जाय तथा राज्य कार्य मे विघ्न उत्पन्न न होने दें।

अर्थसिद्धौ वैरिण न विश्वसेत्।

उद्देश्य-पूर्ति में वैरी का विश्वास मत करो। शत्रु पर विजय करना ही विजिगीषु का उद्देश्य होता है। यही उद्देश्य विजिगीषु की स्थिति को सर्वदिक संग्राम की स्थिति बना देता है। उसका कर्त्तव्य हो जाता है कि शत्रु के धोखे मे न आने के लिये सर्वदा सावधान रहे। उसे यह अविचलित रूप मे समझ रखना चाहिये कि शत्रु कभी भी मित्र नहीं हो सकता है। यदि कभी शत्रु की ओर से मित्रता का प्रस्ताव आये, तो उसे सोचना चाहिये कि जो व्यक्ति एक दिन शत्रुताचरण करने मे ही अपना स्वार्थ समझ रहा था, वह आज तुम्हारा मित्र क्यो बनने जा रहा है? उसे इस प्रस्ताव के आते ही तुरन्त समझ जाना चाहिये कि वह आज मेरा मित्र बनने मे अपना निश्चित स्वार्थ देख रहा है। वह अपने दबाव से ही तो पहले शत्रु था और आज उसी के दबाव से यह मित्रता का प्रस्ताव कर रहा है।

उसे मत जानने दो कि तुमने उसकी गुप्त शत्रुता को पहचान लिया हो। तुम उसे अधेरे मे रखते हुए उस पर उचित समय पर आक्रमण करो। तुम शत्रु को परास्त करने अर्थात् उसके असत्य को पददलित करने के लिये

जिम किसी उपाय का अवलबन कराेगे उसकी दृष्टि मे वह कपट, छल माया आदि हान पर भी तुम्हारी दृष्टि म वही असत्य विरोधरूपी सत्य निष्ठा होने के कारण, वह असत्य का दमन करन वाली सत्य की विजय ही होगी। विजिगीषु का ध्येय तो अपन आराध्य सत्य को ही विजयी बनाना है।

अर्थाधीन एव नियत सबध ।

लोगो से सम्बन्ध उद्देश्य के अनुसार होता है। उद्देश्य के ही अनुसार लागो के साथ सम्बन्धो की स्थापना हाती है। मित्र से मित्रता तथा शत्रु स शत्रुता का सम्बन्ध जुड जाता है। उद्देश्य की एकता से मित्रता तथा उद्देश्य की भिन्नता से शत्रुता का सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। प्रयोजन ही मानवो की परस्पर सयोजक रज्जु है। ससार म अहेतुक सम्बन्ध असभव है। अलब्ध का लाभ, लब्ध की रक्षा तथा रक्षित का वर्धन इन तीन भौतिक प्रयोजनो से ही लोगो के सम्बन्ध जुडत हैं।

शत्रोरपि सुत सखा रक्षितव्य ।

शत्रु का भी पुत्र यदि मित्र हो तो, उसकी रक्षा करनी चाहिये अर्थात् उसे अपने आक्रमण का पात्र न बनना चाहिए। उद्देश्य की एकता से मनुष्य आपस म मित्र बनते हैं। आसुरी प्रवृत्ति वाला सत्यद्वेषी ही विजीगीषु का शत्रु हाता है। सत्य से विजयी बनाना ही विद्वान् का ध्येय होता है। सत्य का विरोध करने वाला तो असत्य का दास हाता है। वह उद्देश्य के विरोध से ही शत्रुता करने वाला बनता है। उसका पुत्र उस जैसा सत्य-शत्रु न होकर असत्य का शत्रु तथा सत्य का मित्र होना असभव नहीं है। यदि किसी शत्रु के पुत्र के सत्यनिष्ठ होने का पुष्ट प्रमाण मिल जाय, तो उसे अपना मित्र समझकर उसकी रक्षा करना सत्य की ही रक्षा करना होगा।

इस श्लोक का एक रूप 'शत्रोरपि सुखासुखोरक्षितव्य' भी है।

मित्र तथा पुत्र की शत्रु से रक्षा करना चाहिये।

यही श्लोक इस प्रकार भी कुछ पुस्तको में है—

शत्रोरपि शत्रु सखाद्रक्षितव्य

अपने आपको शत्रु तथा शत्रु के मित्रो से बचाए रखे।

यावच्छत्रोश्छिद्र पश्यति तावद्धस्तेन वा स्कन्धेन वा वाह्य ।

शत्रु की जिस निर्बलता पर प्रहार कर उसे नष्ट करना हो उसका पता न चला लेने तक उसे कृत्रिम मान तथा कृत्रिम मित्रता के प्रदर्शनों से सदा धोखे म रखते रहो। शत्रु का छिद्र हाथ न आने तक उसे मत छेडो। तब तक उसके दाम्भिक मस्तक के सामने अपना मस्तक ऊचा करके मत चलो। उससे मत बिगाडो। उसी को बडा बना रहने तथा दम्भ मे डूबा रहने दो और युद्ध मत ठानो।

शत्र छिद्रे प्रहरेत्।

योग्य राजा वह है जो शत्रु को उसके सकट के समय उसे (शत्रु) अपनी सहायता मे वञ्चित कर दे।

इस श्लोक का एक रूप 'शत्रु छिद्रे प्रहरेत' भी है।

विद्वान राजा को चाहिए कि वह शत्रु के निबल स्थान पर यथासमय आक्रमण करे।

आत्मछिद्र न प्रकाशयेत्।

शत्रु को अपनी निबलता का पता न चलने देकर उसकी दृष्टि मे सदा बलवान बनकर रहे। तुम अपनी किसी ऐसी निर्बलता को शत्रु पर प्रकट मत होने दो, जिसके कारण वह तुम पर आक्रमण कर सके।

अपनी निबलता को शत्रु को मत पहचानने दो, प्रत्युत तुम्ही उसकी निबलता का पता चलाकर रखो। अपने प्रसारित अगो को छिपा लेने वाले कूम के समान अपनी निबलता को शत्रु के आक्रमणों से अपने को सदा बचाये रखो।

छिद्रप्रहारिण शत्रव ।

शत्रु अपने दुश्मन की निबलता पर ही आक्रमण करते हैं। इस कारण

शत्रु की दृष्टि में सदा बलवान् बने रहना चाहिये ।

इस श्लोक का एक रूप 'छिद्रप्रहारिणो हि शत्रव ' भी है ।

हस्तगतमपि शत्रु न विश्वसेत् ।

विद्वान् राजा शत्रु को अपने वश मे करने के पश्चात् उसके मित्रत्व पर कदापि विश्वास न करे । उसे क्षमाकर कभी प्रेम से अपनाने की भूल न करे । शत्रु का विश्वास सकटकारक होता है ।

स्वजनस्य दुर्वृत्त निवारयेत् ।

विद्वान् राजा अपने पक्ष के लोगो के दुराचार, गर्हित व्यवहार प्रबल उपाय करके दूर रखता है ।

राज्य की सम्पूण राज्यसस्था तथा राज्यभर का प्रजावग विजिगीषु का स्वजन है । राजभर मे कही भी दुराचार को प्रोत्साहन या प्रश्रय न मिलना ही राज्य की सुव्यवस्था है । राजा या राजसस्था का चरित्र ही प्रजा में प्रतिफलित होता है । राष्ट्र भर मे से दुर्वृत्त को बहिष्कृत रखना ही राजा का धम, कम, पूजा, पाठ है । राजकीय लोगो के दुराचारो से राज में पाप-वृद्धि तथा अपयश होता और राजसस्था सावजनिक समयन से वचित होकर निर्बल पर पड जाती है । कोई भी राज्य राजकीय लोगो के भ्रष्टाचार के दुष्परिणामों से बच नहीं सकता है । राज्याधिकारियो के दुश्चरित्र का कुफल राज्य को भोगना ही होगा । इसलिये उन्हें दुराचार से रोकने का कठोरतम उपाय अपनाये रहने में ही राज्य का कल्याण है ।

स्वजनावमानोऽपि मनस्विना दु खमावहति ।

दुश्चरित्रता के कारण हुआ स्वजनो का अपमान विचारशील व्यक्तियों के दु ख का कारण होता है । दुराचार के कारण हुए राजकीय लोगों के अपमान विचारशील स्वाभिमानी कत्तव्यपरायण मनस्वी राजाओं के लिये असह्य दु खदायी होते हैं । मनस्वी राजा के कमचारी, दुराचारी, भ्रष्टाचारी हों और राष्ट्र में अनीति तथा पापाचार बढ़ा रहे हों, तो उनके दुराचार को तत्काल रोकना चाहिये । उन्हें सुपथ पर

रखने मे कोई बात उठा नहीं रखनी चाहिये। उसे अपने राज्याधिकारियों के अपमान और अपयश को अपना ही अपमान और अपयश मानकर उन कारणो को समूल उखाड फॅकना चाहिये।

एकागदोष पुरुषमवसादयति।

जैसे किसी का एक रोगी अग उसकी समस्त देह को अवसन्न तथा अनुपयोगी बना डालता है, वह एक दूषित अग समस्त देह के व्याधिग्रस्त होने का लक्षण होता है, उसी प्रकार राज्यसस्था या किसी दल के किसी भी व्यक्ति का दुराचार, समस्त राज्यसस्था या सारे दल को हीनबल बना डालता है। किसी राज्सस्था का एक भी सदोष राज-कमचारी, सपूण राज्यसस्था का कलक है। जैसे एक चावल से बटलोई के समस्त चावल परखे जाते है, इसी प्रकार एक राज-कमचारी की बुराई से उसे सह लेने वाली समस्त राज्यसत्ता के दूषित होने का प्रमाण मिल जाता है। राज्य-सत्ता का यह महान् उत्तरदायित्व है कि वह अपने प्रत्येक राजकमचारी को भ्रष्टाचार करने से रोके रहे। राजकीय सेवक-वृन्दों को प्रजा का आखेट न बनने दे। यही नियम समस्त समाज पर भी लागू होता है। जिस समाज का भी व्यक्ति दूषित होने पर भी दण्ड नहीं पा रहा है, वह उस सपूण समाज का कलक है। इसलिये अपने समाज के प्रत्येक व्यक्ति को धार्मिक बनाकर रखना समस्त समाज का कत्त व्य है।

शत्रु जयति सुवृत्तता।

सदाचार शत्रु पर विजय प्राप्त करने का अमोघ साधन है, स्वपक्ष का सदाचार ही स्वपक्ष की शक्ति को सुरक्षित रखकर शत्रु को हरा सकता है। इसके विपरीत स्वपक्ष का दुराचार स्वपक्ष को शक्तिहीन बनाकर शत्रु को विजयी बना देता है। जिसका अपने आचार पर वश नहीं है, जिसका अपना आपा अरक्षित है वह पहले तो अनिवार्य रूप से शत्रु के प्रलोभनो मे फसेगा। फिर अपने देश के स्वार्थ को बेचने वाला देशद्रोही बन जायगा। वह शत्रु पर विजय कैसे पायेगा ? ससार में मनुष्य का सबसे पहला सच्चा शत्रु उसी का दुराचार है। मानसिक निर्बलता के रूप मे

उसके मन म बैठकर उसे तोड तोडकर खाता रहता है। दुराचार मनुष्य का आभ्यान्तरिक शत्रु है। दुराचार रूपी शत्रु पर विजय पाये बिना बाह्य शत्रुओ पर विजय दिलाने वाले उत्साह, आनद वीरोचित गुण मनुष्य को प्राप्त नही होते हैं।

निकृतिप्रिया नीचा ।

नीच व्यक्ति सज्जनो के साथ कष्टपूण व्यवहार करने का आदी होता है। नीच व्यक्ति विश्वासप्रद व्यक्ति के साथ भी विश्वासघात करता है। वह उनका ऐसा स्वभाव है, जो बदल नहीं सकता है।

अतएव नीच व्यक्ति से सज्जन सदा दूर रहते हैं।

नीचस्य मतिर्न दातव्या ।

नीच, हीन और दुष्ट मानव को नव उपदेश देकर उसे धमबुद्धि वाला महान बनाओ, इस प्रकार के उपदेश उसे देकर आप अपना शत्रु ही बनाते हैं। वह अपनी प्रवृत्तिया त्याग नही सकता है। क्या सप कभी विष त्याग सकता है? क्या सिंह कभी शाकाहारी हो सकता है?

तेषु विश्वासो न कत्तव्य ।

अतएव इन सभी का विश्वास कदापि भूलकर भी न करे। इनसे सबध जोडना सकट को बुलाना है। यह कभी सद्व्यवहार पर नही चल सकते हैं। अतएव सज्जन इनकी परछाइ से भी बचते हैं।

सुपूजितोऽपि दुजन पीडयत्येव ।

दुजन उदारता का व्यवहार पाकर भी अवसर पाते ही अनिष्ट करने से नहीं चूकता है।

उपकारी का दुख पहुचाये बिना दुजन को शान्ति नही पड़ती। दुजन दूध पीकर विषवमन करने वाले साँप या माता के देह म भी डक मारने वाले बिच्छू के समान अपने दुरतिक्रमणीय स्वभाव से जब तक किसी

का अनिष्ट नही कर लेता, तब तक उसे ठडक नही मिलती है, वह अपने स्वभाव से दूसरो का उपकार करने के लिए विवश है। इसलिये लाग धार्मिकता का सस्ता यश लूटने या दुजनो से महात्मापन का प्रमाणपत्र लेने के लिये उसके साथ विश्वास का सबध स्थापित करने की भूल न करें।

इस श्लोक का एक रूप 'सुपूजितोऽपि बाधते दुजन' भी है।

चन्दनादीनपि दावोऽग्निर्दहत्येव।

जैसे दावाग्नि अपने दाहकत्व स्वभाव से विवश होकर चन्दन की शीतलता तथा सुगन्ध का गुणग्रहण न कर उसे भी भस्मीभूत कर डालती है इसी प्रकार उपकृत शठ उपकार करने वाला कृतज्ञ न होकर उसका भी अहित ही करता है।

कुछ पुस्तको मे यह सूत्र अधिक है—

शिरसि प्रस्थाप्यमानो वह्निर्दहत्येव।

जैसे सिर पर धारण किया हुआ अग्नि के अपने दाहक स्वभाव से विवश होकर अपने सम्मानदाता को भी निश्चित रूप से जलाता है, उसी प्रकार दुजन, सत्कृत तथा उपकृत होने पर भी सत्कर्ता तथा उपकर्ता को निश्चित रूप से पीडा पहुचाता है।

आग बुझ सकती है परन्तु शीतल नही हो सकती है। इसी प्रकार नीच विनष्ट हो सकता है, पर अपनी नीचता को त्याग नहीं सकता है।

कदाऽपि पुरुष नावमन्येत।

कभी किसी पुरुष का अपमान मत करो। मनुष्य को शील से समस्त जगत पर वशीकार पाकर रहना चाहिये। दूसरा का अपमान अपने ही सद्गुणो का मदन कर डालता है। किसी दूसरे का अपमान करना अपना ही अपमान है। लाग दूसरे का अपमान करके खुश होते हैं वह सबसे पहले अपनी ही आत्मा का हनन या अपमान या अपने ही सद्गुणा का मदन कर चुकते हैं।

अधम ता जिसे अपना शत्रु समझ लेता हैं, उसे अपमान के द्वारा हानि

पहुचाना चाहता है। हानि शत्रु को ही पहुचाई जाती है, क्योंकि मित्रों के अपमान का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता, शत्रु को हानि पहुचाना तो अनिवार्य कर्त्तव्य है, क्योंकि उसे हानि न पहुचाने से उसके शत्रुताचरण को प्रोत्साहन मिल जाता है। शत्रु के हाथो हानि उठाना या उसके शत्रुताचरण में सहयोग देना एक ही बात है, क्योंकि शत्रु का विरोध न करना निर्बुद्धिता है, अपमान न करने का उपदेश देकर उसका विरोध ही छुड़वा देना सभव नहीं है। अवसर मिलने पर शत्रु को मिटा डालना ही उसके साथ उचित बर्ताव माना जाता है। इतने पर भी उसका अपमान करने से विरत रहने को कहना अवश्य ही अपना कोई गभीर अभिप्राय रखता है।

इस श्लोक का एक रूप 'कचदपि पुरुष नावमन्येत्' भी है।

किसी भी पुरुष का अपमान न करना चाहिए।

क्षन्तव्यमिति पुरुष न बाधेत।

क्षमा करना मानव-धर्म है, इस दृष्टि को लेकर क्षमायोग्य पात्रो को सन्ताप मत पहुचाओ। पात्रापात्र विचार न कर के अपात्र को क्षमा करना तथा पात्र को क्षमा से वचित रख देना विचारशून्यता है। क्षमा राजधर्म है। दण्डधारी ही निरपराधों को अदण्डित रखने तथा अपराधियो को दण्डित करने का अधिकार रखते हैं। परिस्थिति के कारण जब जिसे अपराधियो को दण्ड देने का अधिकार मिलता है, तब उसके अपराध या निर्दोषता का निर्णय करना भी इच्छा से उसीका कर्त्तव्य हो जाता है। यह कर्त्तव्य उसे न्यायाधीश का आसन दे देता है। जिसे जब न्यायाधीश का आसन मिल जाता है, उसे तब क्षमा करने का भी अधिकार प्राप्त है। इस अवसर पर क्षमाशीलतारूपी मानव धर्म पालन मे प्रमाद न करना चाहिये। राजा न्यायनिष्ठ प्रजा की ओर से ही न्यायाधीश के आसन पर नियुक्त होता है। प्रजा की न्यायनिष्ठा राजचरित्र से प्रतिध्वनित होकर प्रकट रहे। अपराधियो को दण्डमुक्त रखना प्रजा के लिये असन्तोषजनक होने के कारण अपराधियों की दण्डमुक्ति को क्षमा मे सम्मिलित नही किया जा सकता है।

अपराधी को दण्डित करके समाज की शान्ति रक्षा करना राजधर्म

है। निरपराध को दण्ड देकर समाज मे न्याय का हनन करना समाज के लिये हानिकारक है। इस दृष्टि से क्षमा के उपयुक्त क्षेत्र (पात्र) का निर्णय करना राजा का अनिवार्य कर्त्तव्य हो जाता है।

कुछ पुस्तको मे यह अधिक सूत्र भी है—

क्षमन्त इति पुरुषान व बाधयेत्।

लोगो की सहनशीलता को देखकर उनसे ऐसा बर्ताव न करो जो वास्तव मे उन पर अत्याचार बन जाय। राजदण्ड चिकित्सको के अमृत-फलोत्पादक विष-प्रयोग सा होना चाहिये। राजदण्ड का उपयोग असाध्य रोगी की चिकित्सा मे अचूक रक्षक विष प्रयोग के समान होने पर ही समर्थ होता है। प्रजापालक राजा का कर्त्तव्य है कि वह दण्ड-प्रयोग करते समय अपने को अत्याचारित प्रजा की परिस्थिति में रखकर ही दण्ड की उपयोगिता तथा औचित्य का विचार करे। अपने को अत्याचारित प्रजा की स्थिति मे रखे बिना दण्ड का अभ्रान्त होना किसी भी प्रकार सभव नहीं है।

एक और अधिक सूत्र इस प्रकार है—

चन्दनादपिणातो वह्नि दहत्येव।

जैसे सुशीतल चन्दन से उत्पन्न अग्नि भी दाह करती है, उसी प्रकार सहन की सीमा पार हो जाने पर सहने वाले ठडे लोगों में से भडक उठी हुई विद्रोहमयी अग्नि सम्मुख्य तथा विप्लव का रूप लेकर व्यर्थ अपमान, अपकर्ता को नष्ट-भ्रष्ट करने पर उतर आती है।

राज्याधिकारी लोग राजशक्ति के मद में आकर ऐसा मूढ पग न उठायें, जिससे पीडित निराश प्रजा को कानून को हाथो मे लेकर प्रत्याक्रामक बनने के लिये विवश हो जाना पडे। सहन की सीमा पार होने पर सहने वालो में से भडकी हुई आग विप्लव का रूप धारण कर समग्र राष्ट्र को नष्ट भ्रष्ट कर देती है। राज्याधिकारी लोग प्रजा को कुपित करने को साधारण बात और उसके कोप को साधारण हानि न समझकर उससे बचे रहें। राजा लोग जानें कि तुम्हारे राज्य को जो राजशक्ति मिली है, वह-

प्रजा की धरोहर ही तो है। संसार का इतिहास कह रहा है कि जब जब राजा लोग अपने राजकीय कर्त्तव्य भूलकर शक्ति-मदान्ध होकर अन्याय और अत्याचार पर उतरे हैं, तब-तब प्रजा को ऐसे राजाओ से राज शक्ति छीनने के उद्देश्य से कानून को हाथ मे उठा लेने के लिये विवश होना पडता है।

भर्माधिक रहस्ययुक्त वक्तुमिच्छन्त्यबुद्धय ।

निबुद्धि लोग राजा के द्वारा एकान्त मे कहे हुए गभीर राजकीय रहस्यो को प्रकट कर देना चाहते हैं। राजा की मन्त्रणा-सभा मे अविश्व-सनीय लोगो के प्रवेश को निषिद्ध रखने के लिये अत्यन्त सावधानता बरतनी चाहिये। निबुद्धि लोग अपनी इस दुष्प्रवृत्ति के घातक परिणाम को न समझ-कर, अपनी असयत इच्छा के आधीन होकर अपने स्वामी का रहस्य भेद कर, राष्ट्र को हानि पहुचाकर अपनी ही हानि करते हैं। रहस्य भेद कायघाती तथा राष्ट्रघाती व्याधि है।

मूढ मानव अपनी बुद्धिहीनता से रहस्य मे कही हुई बात को डके की चोट कहना और उसे सकलजन श्रोतव्य बना देना चाहा करता है। मूढ़ के पेट मे बात नही पचती। उसे रहस्य की बात सुनते ही कुपच होकर बात का अतिसार हो जाता है।

अनुरागस्तु फलेन सूच्यते।

अनुराग मौखिक सहानुभूति से नहीं, कामों से सूचित होता है। विद्वान ऐसा ही मानते हैं।

अनुरागी के अनुराग का प्रमाण बातों मे ढूढना भ्रम है। अनुराग तो आचरणों और फलों से जानने योग्य वस्तु है। किसी के शाब्दिक अनुराग का विश्वास करना मूढता और भोलापन है। समाज के प्रत्येक सदस्य का राष्ट्रानुरागी अर्थात् सार्वजनिक कल्याण मे है।

इस श्लोक का एक अर्थ 'अनुरागस्तु हितेन सूच्यते' भी है।

अनुराग हितकारी चेष्टाओं से जाना जाता है।

आज्ञाफलमैश्वर्यम ।

एश्वय का फल आज्ञा है ।

ससार म उसी की आज्ञा मानी जाती है, जो अपने ऐश्वय को अपनी प्रब ध शक्ति से सुरक्षित रखता है। राज्यसस्था राजाज्ञा का रूप लेकर प्रकट होती या आत्म प्रकाश किया करती है। राष्ट्र ही राजा को सिंहासनारूढ करता है। राष्ट्र की अवहेलना कर राजसिंहासन पर बलात् अधिकार कर बैठने वाले को सिंहासन चाहे मिल जाय, पर वह राष्ट्र के उस हृदय मे जो राष्ट्र का सच्चा स्वामी है, स्थान नहीं ले पाता है। राष्ट्र के हृदय की सम्मति के बिना राज्याधिकार हथिया बैठने वाले राजा का राष्ट्रविरोधी होना अनिवाय है। ऐसे राजा का राज्य तब तक ही रह सकता है, जब तक राष्ट्र की सम्मिलित शक्ति उसे पराभूत न करे। राष्ट्रविरोधी आज्ञा देने वाला राजा प्रजा को पग पग पर पीडित करता रहकर उसे विद्रोही बनाती है। राष्ट्र का हृदय ही राष्ट्र का सच्चा राजा होता है,

अनिवाय रूप से आवश्यक है कि राज्यव्यवस्था सभालने वाले लोग अपनी या राज्य-सस्था की ओर से निर्वाचित न होकर, राष्ट्र की ओर से निर्वाचित हो। राष्ट्र व्यवस्था के लिय ऐसे व्यक्ति निर्वाचित हो, जो राष्ट्र की आज्ञा को विश्वस्तता के साथ राष्ट्र कल्याणकारी सच्ची राजाज्ञा का रूप दें और बडी श्रद्धा से उसका पालन करें।

दातव्यमपि बालिश परिक्लेशेनपरिदास्यति।

मूढ मानव दातव्य वस्तु को भी बाह्य प्रभाव से देता है। मूढ मानव देना मन म सोचकर भी तथा वाणी से देना स्वीकार करके भी बुरे ढग से, बडे कष्ट से सदिहान चित्त से तथा स्वार्थबुद्धि से देता है। वह सरलता, नम्रता तथा क्त व्य-बुद्धि से देता ही नहीं है।

मूढ मानव देना कत्त व्य होने पर भी क्लेश से देता है। यह समस्त ससार दान के ही माहात्म्य से चल रहा है। यह सृष्टि विधाता के आत्मदान से ही तो सप्राण हो रही है। माता पिता के आत्मदान से मानव का भरण-पोषण होता है। सन्तानपालन मे आत्मदान ही रहता है। समाज आत्मदान से समाज-कल्याणकारिणी सस्थाओ तथा विपद्ग्रस्त

के भरण-पोषण होते हैं। यदि मानव को सामाजिक सहायता बन्द हो जाय तो उसकी जीवन-यात्रा में पद-पद पर विघ्न होते हैं।

जैसा समाज होता है, उसी प्रकार का सहयोग प्राप्त होता है। के बुरे-भले होने पर ही मनुष्य भले-बुरे सहयोग मिलते हैं। समाज व्यक्ति का जीवन-मरण का अकाट्य, अभेद्य सम्बन्ध है। इस अपने समाज में मनुष्यता के संरक्षक सद्गुणों की वृद्धि के लिये उपार्जन का कुछ भाग अनिवार्य रूप से दान करना मनुष्य का नहीं, किन्तु स्वहितकारी कर्त्तव्य है।

महदैश्वर्यं प्राप्याप्यधृतिमान विनश्यति।

अविवेकी लोग राज्यैश्वर्य पाकर नष्ट हो जाते हैं।

अधीर, अस्थिर, असंयमी मनुष्य को मिला बड़े से बड़ा राज्यैश्वर्य उसके विनाश के ही काम आता है। उसके ऐश्वर्य का सदुपयोग करने व समाज-कल्याण के द्वारा अपना सच्चा कल्याण करने वाली, स्थिरता, संयम तथा दानशीलता नहीं होती। इन गुणों के उसके पास आयी संपत्ति दुरुपयुक्त होकर उसी के विनाश का कारण जाती है।

यहां पर धृति शब्द मानवोचित समस्त गुणों का उपलक्षण है। सुशिक्षा, दाक्षिण्य तथा वैदुष्य न होने पर मनुष्य की यही दुर्दशा होती वह मनुष्यता से गिरकर देशद्रोही बन जाता है। देश की दृष्टि में नीय बनना ही उसका विनाश है। धीरता, विवेक और संयम वाले के पास आई संपत्ति उसकी दृढता के कारण सदुपयोग में आती उसकी मनुष्यता को सुरक्षित रखने के काम आती है। संपत्ति का ही ऐसा है कि यह जिस घर में घुसती है, यदि उस घर में विवेक न हो, उसके गुणों का सर्वनाश किये बिना, उस घर से नहीं टलती है। विषयक अभिलाषाओं पर से नियंत्रण उठ जाने से ही संसार में से का ह्रास होता जा रहा है।

अधीर मानव की संपत्ति उसके विनाश के ही काम आती है।

मानव सपत्ति के सदुपयोग की कला जानता ही नहीं है। सपत्ति, धैय और विवक स ही सुरक्षित और सदुपयुक्त हो सकती है। विरोधी अवस्थाओं को पराभूत करके विजयी बने रहना धीरज है। अपने लक्ष्य पर स्थिर रहने रूपी आत्मविश्वास की अवस्था का ही नाम धीरज है। सत्य पर सुप्रतिष्ठित रहकर उसके बल से असत्य की अपेक्षा करते रहना धीरज है।

अविनीत अर्थात् सत्य का नेतृत्व स्वीकार न करन वाले मानव का ऐश्वय उसे अन्त मे विपद्ग्रस्त कर देता है।

इस श्लोक का एक रूप 'नहदैंश्वयमवाप्याप्यधृतिमान विनश्यति' भी है।

कुछ पुस्तकों मे एक अधिक सूत्र है—

धृत्या जतति रोगान।

धृति से अर्थात् मन, प्राण तथा इन्द्रियो को वश मे रखन से रोगो पर विजय पाया जा सकता है। मनुष्य धृति से रोगों को जीत लेता है। काम-क्रोधादि कुप्रवत्ति मनुष्य के मानसिक रोग हैं। त्रिदोषो की विकृति शारीरिक रोग हैं। मन को सदा कामादि रिपुओं के आक्रमण से अप्रभावित रखन वाला सत्यनिष्ठ कर्मवीर स्वभाव से ही अपने देह को रोगाक्रमण के कारणो से मुक्त रखकर सर्वावस्था मे उत्साही, सदा कर्त्तव्यशील बना रहता है।

नास्त्यधृतेरैंहिकामुष्मिकम्।

अधीरता वतमान और भावी दोनो सुखहीन दु खमय हो जाते हैं। धीरज न होने से श्रम का सामर्थ्य नष्ट हो जाता और फल अप्राप्त हो जाता है। सफलता पाने के लिये धीरता की परमावश्यकता है। अपने मन पर कामादि रिपुओ का आक्रमण होने देनेवाला असत्य का दास मानव वतमान क्षण में कुकर्मासक्त दु खी रहकर, अपने भूत को भी सुखविहीन सिद्ध कर देता है और भावी को भी सुख से वचित बना डालता है। वह अपन भूत को तो पश्चात्ताप का कारण और भावी को नैराश्यमय बनाये रखता है।

कुछ पुस्तकों मे यह सूत्र अधिक है।

गुणवानपि क्षुद्रपक्षस्त्यज्यते।

असत्य के प्रेमी नीच लोग गुणवान दीखने पर भी त्याज्य होते हैं। शिक्षा, शिष्टता, सौजन्य तथा संपत्ति से युक्त भी नीच पक्ष इसीलिये त्याग दिया जाता है। उस पक्ष मे मिलना वास्तव मे सत्य का ही द्रोही होना माना गया है।

न दुर्जनैः सह संसर्गः कर्त्तव्यः।

बुद्धिमान लोग हीन, क्रूर नीच लोगो से घनिष्ठता नहीं रखते हैं। वह अधम लोगो का साथ नहीं देते हैं।

शौण्डहस्तगतं पयोऽप्यवमन्येत।

शराबी के हाथ मे दूध भी हो तो शराब समझकर त्याग देना चाहिए। दुष्टो की कृपा मे भी विनाश के विपैले बीज छिपे रहते हैं। जिनको कर्त्तव्याकर्त्तव्य का ज्ञान नहीं है और शराबी है, उनकी कृपा भी संकट सूचक होती हैं।

कार्यसंकटेष्वर्थव्यवसायिनी बुद्धिः।

कर्त्तव्य मे विघ्न आने पर निश्चित सफलता देने वाले कर्त्तव्य का मार्ग सुझाव देना बुद्धि का ही काम है। कार्य-संकट के समय कर्त्तव्याकर्त्तव्य का निर्णय करा देने असन्देहात्मिका बुद्धि ही बुद्धि कहलाने योग्य है। संकट मे मनुष्य को बुद्धिभ्रष्ट न होना चाहिये। बुद्धि का विशेष उपयोग संकट-काल मे ही होता है। संकट ही बुद्धि को उपयोग के अवसर देते हैं। इस दृष्टि से कुछ क्षणों का मानव-जीवन के उत्थान में महत्वपूर्ण स्थान है। इतिहास के समस्त बड़े मानव संकटों ही की कृपा से फल थे। यदि उनके जीवन मे संकट न होते, यदि वे यहां से संकट-हीन जीवन बिताकर चले गये होते, तो संसार उनके गुप्त गुणों से परिचित न हो पाता और उनकी बुद्धि की प्रखरता तथा तेजस्विता से कोई शिक्षा न ले पाता। संसार को महापुरुष देने तथा उनसे परिचित

कराने वाले संकटों को लाख बार धन्यवाद है। संकट इस विश्व की सबसे ऊंची देन है। संकट मानव-जीवन को उच्च बनाने वाली रामबाण महौषध है। राज्याधिकारियों को कार्य-संकटों के समय, संकट-काल में ही यथार्थ बात सुझाने वाली बुद्धि रखने वाले राष्ट्र के बुद्धिमान लोगों को निमंत्रित करके उनसे संवाद द्वारा तात्कालिक राष्ट्रीय कर्तव्य-निर्धारण करना आवश्यक है।

मितभोजनं स्वास्थ्यम्।

परिमित भोजन स्वास्थ्यदायक होता है। भोजन करने वाले जानें कि वे भोजन करने वाले नहीं हैं, किन्तु उदर की आग ही भोजन करने वाली है। मानव-देहरूपी यंत्र अन्नजलरूपी ईंधन से चलता है। भोजन ही इस यंत्र का चलाने वाला ईंधन है। गले से नीचे उतरते ही उस स्वाद से, जिसके लिये मनुष्य अस्वास्थ्यकर कुपथ्य भोजन करता है, मनुष्य का कोई संबंध नहीं रह जाता है। इसलिए भोजन केवल स्वास्थ्य की दृष्टि से करना चाहिए, केवल स्वाद की दृष्टि से नहीं।

पथ्यमपथ्यं वाऽजीर्णे नाश्नीयात्।

अपथ्य के कारण अजीर्ण हो गया हो तो पथ्य को भी त्याग देना चाहिये। रुग्ण पाकस्थली को भोजन पचाने के सामर्थ्य का पुनरुद्धार करने का अवसर देने के लिये पथ्य को भी त्यागकर अर्थात उपवास कर विश्राम देना लाभदायक माना गया है।

इससे अजीर्ण रोग समाप्त होता है।

कुछ पुस्तकों में यह श्लोक अधिक है।

भक्ष्यमप्यपथ्यं नाश्नीयात्।

रुग्णावस्था में स्वाभाविक खाद्य से भी अपथ्य हो जाने पर उसे न खाना चाहिये। इस प्रकार व्यवहार कर मनुष्य अपने को स्वस्थ रख सकता है।

जीर्णशरीरे वर्धमान व्याधि नोपेक्ष्येत।

रुग्ण, वृद्ध, रोगजीर्ण, निर्बल देह मे बढ़ती व्याधि की उपेक्षा न करे। देह मे व्याधि उत्पन्न हो जाना ही शरीर की जीर्णता है। मनुष्य व्याधि की उपेक्षा कर कुपथ्य विपरीत आहार विहार से व्याधि को बढ़ने का अवसर न दे। रोग को निर्मूल्य कर डालना ही रुग्ण मनुष्य का तात्कालिक कर्त्तव्य है। आलस्य मे आकर व्याधि को तुच्छ मानकर उपेक्षा करना ठीक नहीं है। धातुवैषम्य से उत्पन्न हुई अवस्था 'व्याधि' कहाती है।

इस श्लोक का एक रूप 'शरीरवर्धमानो व्याधिर्नोपेक्ष्यते' भी है।

अजीर्णे भोजन दुखम।

अजीर्ण होने पर भोजन और ग्रहण करना निश्चित रूप से बीमारी को निमन्त्रण देना है। अतएव अजीर्ण होने पर उपवास करना आवश्यक है।

शत्रोरपि विशिष्यते व्याधि।

व्याधि शत्रु से भी अधिक हानिकारक होती है। व्याधि शरीर पर आठो पहर आक्रमण करने वाली होने से महाशत्रु है। शत्रु तो बाहर से आकर जीवन तथा जीवन-साधनो पर आक्रमण करता है परन्तु व्याधि देहस्थ होकर प्राण, धन, देह आदि सबका विनाश कर डालती है। "मत्कल्पा हि रोगाणि" रोगी लोग मततुल्य होते हैं। हित परिमितमेध्य (अग्नि पर डालने से दुर्गंधि उत्पन्न न करने वाला) तथा यथाकाल भोजन, स्नान, जलपान, इन्द्रियसयम, सदाचार आदि स्वास्थ्य के मुख्य कारण हैं।

दान निधानमनुगामि।

दान अपनी धनशक्ति के अनुसार होना चाहिये। मनुष्य पार्थिव धन होने मात्र से दाता नहीं बन जाता है। दयालु हृदय ही मनुष्य को दाता बनाने वाला दैवी धन है। दानपात्र सामने आने पर दाता का अपना सम्पूर्ण हृदय तथा अर्थात् पूरा सहयोग देने के लिये विवश होकर दानपात्र के प्रति

आत्म-समर्पण कर देना पडता है। दाता को अपनी धनशक्ति का दान मे उपयोग करना ही पडता है। उसे अपनी सीमित धनशक्ति मे सीमित रहकर दान करना पडता है। वह अपनी सीमित धनशक्ति दान मे जो उपयोग करता है, वह हार्दिक होता है। सहानुभूति-सम्पन्नता या सहृदयता ही मनुष्य की दानप्रेरकनिधि है। दान भय, दबाव या स्वार्थ से न होकर हार्दिकता के साथ हो। इसी मे मानव का कल्याण है। दान मनुष्य की भावनात्मक निधि के अनुसार होना चाहिये, उससे न्यून नही।

पटुतरे तृष्णापरे सुलभमतिसन्धानम।

अनुचित चतुर लोभपरायण व्यक्ति से अनुचित घनिष्ठता बढ़ाने की प्रवृत्ति रहती है। अनैतिक चतुर लोभपरायण मनुष्य मे ही किसी से अति घनिष्ठता बढाने की प्रवृत्ति सभव है। ऐसे लोगो के फेर मे आकर विश्वास न करना चाहिये। शठता, धूर्तता, माया, कौटिल्य, अनृत और छल से ही किसी नय मनुष्य से प्रतारणामयी घनिष्ठता बढाई जाती है। अति चालाक लोभपरायण लोग प्रतारक होते हैं। किसी की अति घनिष्ठता बढाने की प्रवृत्ति को शका की दृष्टि से ही देखना चाहिये।

तृष्णया मतिश्छाद्यते।

लोभ मनुष्य की बुद्धि को ढक देता है। लाभ से मनुष्य का बुद्धिभ्रश हो जाता है। वह उस सबध मे औचित्य हिताहित या कर्त्तव्याकर्त्तव्य समझने की योग्यता खो बैठता है। लोभ से मनुष्य की बुद्धि विचलित होकर अपने विवेक-स्थान से निकलकर बाहर भटकने लगती है। लोभ तृष्णा लगा देता है। तृपात को वर्तमान और भावी दोनो कालो से दुःख ही दुःख मिलता है। लोभी मनुष्य यथार्थता से अलग होकर आधी मे उडाए पत्ते के समान उडा फिरा करता है।

कार्यबहुत्वे बहुफलमायतिक कुर्यात।

मनुष्य एक साथ अनेक कार्य उपस्थित होने पर सबसे अधिक महत्व-पूर्ण स्थायी परिणाम वाला कर्म कर्त्तव्यरूप मे स्वीकार करे। उसे

चुवन के पश्चात लघु तथा अस्थायी महत्व रखन वाा काय वरे। "सबसे अधिक महत्वपूण परिणाम' यह शब्द भ्रम उत्पन्न वाला शब्द है। वास्तव म सबम अधिक महत्वपूण परिणाम वही हाना है, जिसका अधिक सख्या वाले लोगो म नही किन्तु सम्पूण मनुष्य-समाज के साथ सबध हो। जिस वात बात का सबध समस्त मनुष्य-समाज के कल्याण के साथ हाता है, उसका स्थायी होना भी अनिवाय होता है।

पथभ्रष्ट मानव अधिक स अधिक सख्या वाले लोगो के भौतिक कल्याण की अपेक्षा अधिक महत्व दिया करता है और मनुष्य-समाज के सावजनिक स्थायी कल्याण के स्वरूप से अपरिचित रहकर उसकी उपेक्षा ही किया करता है। अधिक से अधिक सख्या वाल लोगों के भौतिक कल्याण को महत्व देन वाला यह सिद्धान्त अल्पमत के विरुद्ध बहुमत को प्राधान्य दने वाला होने स जिसकी लाठी उसकी भस मे सिद्धान्त का ही लागो का भ्रम म डालन वाला भाषान्तर है। समाज में सत्य का सुप्रतिष्ठित रहना ही समाज का सच्चा कल्याण है तथा एकमात्र सत्य ही स्थायी नित्य वस्तु इस ससार मे है। यह इच्छुक यशोलोभी लाग अपनी इन्द्रियों के दास होत हैं। अज्ञानी जगत् भौतिक सुखेच्छाओ का दास होता है। भौतिक सुखेच्छाओ के दास अज्ञानी जगत् का, भौतिक सुख देने की भावना से कर्तव्य को अपनाना, समाज के बहुसख्यको की दृष्टि से अधिक महत्वपूण होन पर भी सावजनिक रूप से कभी भी महत्वपूण नही हो सकता है। इस दृष्टि से समाज के अधिक से अधिक लोगों को अधिक भौतिक लाभ पहुचान की भावना ही भ्रम से भरी हुई है। उसके मूल म ही भूल है। मनुष्य को तो, सबसे अधिक सख्या वाले अज्ञानियों की रुचि की दासता करन की दुर्भावना त्याग देनी चाहिये और सपूण मनुष्य-समाज का अक्षय कल्याण करने की कसौटी अपनानी चाहिये। यह सपूण मानव-समाज का अक्षय कल्याण करन की कसौटी को अपनी स्थायी व्यक्तिगत जितेन्द्रियता-रूपी अक्षय शान्ति मे केन्द्रीभूत कर कर्तव्य-निणय करे, तब ही उसका कर्तव्य निणय अभ्रान्त हो सकता है।

स्वयमेवावस्कन्न काय निरीक्षेत।

स्वय बिगडे या दूसरों के बिगाडे काम को दूसरों की आंखों से न देख-

कर अपनी ही आखो से देखे और उसे सुधारे। जो काम किसी विघ्न के कारण सम्पन्न न हो रहा हो, या विफल हो रहा हो, उसे अपनी ही आखो से देखना चाहिये। दूसरो के निरीक्षण मे उपेक्षा का अंश होना अत्यधिक संभव है। कर्त्तव्य कर्ता का हार्दिक प्रेम पाये बिना पूर्ण होता ही नही है। कर्म के पूर्णाग होने के लिये उसे कर्ता के हार्दिक प्रेम की स्पर्श की अनिवार्य आवश्यकता होती है। दूसरे लोग दूसरो के कर्त्तव्य को अपना हृत्प्रेम देने मे प्रमाद भूल या असावधानी करे, यह नितान्त स्वाभाविक है। इनके प्रमाद से काम बिगड जाता है जो बिगड ही जाना चाहिये। पराये हाथो से काम बिगडने का यही कारण होता है कि उसे कर्ता का हार्दिक प्रेम प्राप्त नही होता है। इसलिये ज्यो ही तुम्हारे सामने कोई कर्म उपस्थित हो, त्यो ही उसके पूर्णाग होने की स्वयं व्यवस्था करो। राजा उपस्थित कर्मों को स्वयं देखें।

मूर्खेषु साहसं नियतम्।

नृशंस आक्रमण, अभद्र व्यवहार, अबुद्धिपूर्वकारिता या दुःसाहस मूर्खों का स्वभाव होता है। मूर्ख सदा अबुद्धिपूर्वकारी अपरिणामदर्शी तथा दुःसाहसी हुआ करते हैं।

मूर्खेषु विवादो न कर्त्तव्यः।

हिताहित उचितानुचित विचारशून्य विवेकहीन मूर्खों के साथ वाग्युद्ध न कर उनके दुःसाहस को उचित व्यवहार से तत्क्षण दमन करना चाहिये। मूर्ख लोग सद्वचन सुभाषित तथा हितभाषण को प्रतिकूल माना करते हैं। बातो से उनका दुःसाहस बढ जाता है। विवाद कर इन्हे किसी सत्य सिद्धान्त पर आरूढ़ नहीं किया जा सकता है। ये सदुपदेष्टा की अवहेलना किया करते हैं। बातो से इनका दुःसाहस नहीं बढाना चाहिये।

मूर्खेषु मूर्खवत् कथयेत्।

मूर्खों से सज्जनता का व्यवहार न करके उनके साथ उनकी समझ मे आने वाली दण्ड की भाषा मे व्यवहार करना चाहिये। जिसे जो बात या

जो ढग बोधगम्य या अभ्यस्त हो, उससे उसी ढग मे बात करनी चाहिये। जैसे भैंस केवल डडे की भाषा पहचानती है, इसी प्रकार मूख लोग सज्जनता की किसी बात को नही समझते हैं, केवल दण्ड की भाषा पहचानते हैं। उनसे उनकी ग्रहणशक्ति की योग्यता के विपरीत उदार भाषा म व्यवहार नही करना चाहिये।

आयसैरास छेद्यम।

जैसे लोहे को लोहो से ही काटा जाता है, उसी प्रकार पतित हृदय-वाले हठीले नीच मूख को हितोपदेश देकर अनुकूल बनाने की भ्रान्ति न कर उसे उसका जी तोड सकन वाले कठोर शारीरिक दण्डो से पराभूत करना चाहिये। प्रतिपक्षी के दम्भ को चूण करने वाली अधिक दाम्भिकता तथा कठोरता को काम मे लाकर ही उससे व्यवहार करना चाहिये। उसके साथ नम्रता और उदारता दोनो ही हानिकारक होती है। मूर्खों के साथ नम्र हो जाना तो दुष्परिणामी है और उनके प्रति उदारता दिखाना व्यथ प्रयत्न माना गया है।

इस श्लोक के दो रूप पुस्तको मे हैं।

आयसैराय छेद्य ।

आया सैरायन छेद्यम्।

जैसे स्वभाव से कठिन लोहे का छेदन कठिन श्रम से ही सभव है, उसी प्रकार जितना ही कठिन काय हो, उतन ही कठोर उपायों से काम लना चाहिये। श्रमसाध्य काय श्रम से ही सभव होत हैं। उपाय कार्यों की स्थिति पर निभर होत हैं। लघु काय लघु उपायों स तथा बडे काय बडे उपायो से सभव होते हैं।

नास्त्यधीमत सखा।

मूख को बधु मिलना सभव नही है। बधुत्व का बधन तो सत्यनिष्ठा में ही रहता है। मूर्खों का सबध स्वाथमूलक होता है। मूर्खों के पारस्परिक सहयोगो के भीतर शत्रुता ही छिपी छिपी काम करती रहती है। एक दूसरे के साथ सहयोग का जो सबध रखते दिखाई देते हैं, वह सबध उनकी

पारस्परिक लुण्ठनप्रवृत्तिमूलक शत्रुता होता है। एक दूसरे के शत्रु होते हुए भी अपनी भ्रान्त बुद्धि से एक दूसरे को मित्र कहा करते है।

कुछ पुस्तको म यह सूत्र अधिक है—

नास्ति धर्म सम सखा।

ससार म प्रत्येक मनुष्य को अपने धम का पालन करना चाहिये। सबसे उत्तम काय यही है। मनुष्य क मर जाने पर भी धम नही मरता है। शेष सब पदार्थ शरीर क साथ नष्ट हो जात हैं।

धर्मेण धार्यते लोक।

लोक—विधारक सत्य रूपी मानव धम ही मानव—समाज का सरक्षक है। श्रेष्ठ कम करना तथा अश्रेष्ठ से बचना ये दो धम के बडे भेद हैं। धार्मिक मनुष्य को कर्त्तव्य करने पडते हैं। अकर्त्तव्य त्यागना उसका स्वभाव हो जाता है।

प्रेतमपि धर्माधर्मावनुगच्छत।

मनुष्य के धम-अधम उसकी मृत्यु के बाद लगे रहत हैं। लोग बराबर उनका स्मरण करते हैं। उसकी मृत्यु के बाद जैसे धम होंगे, वैसे ही दुनिया याद करेगी।

दया धमस्य जन्मभूमि।

पर दुःख—कातरता या सहानुभूति रूपी दया से धमनिष्ठा पैदा होती है। दया ही ऐहिक अभ्युदय और मानस उत्कर्ष पदा करन वाले धम की जन्मभूमि है। दया रूपी जन्मभूमि न हो तो धर्मोत्पत्ति असभव है। मैत्री, करुणा मुदिता, उपेक्षा, पुण्यात्माओ से मैत्री, दुखियो पर करुणा, सुखियो को देखकर मुदिता, पापियो के प्रति घृणा से चित्त—नमल्य की अभि-व्यक्ति होती है। निमल चित्त म दया उत्पन्न होती है। दयालु चित्त मे ही कर्त्तव्य पालन की भावना होती है।

धर्ममूले सत्यदाने।

धर्म ही सत्य और दान का मूल है। इसस दाना ही उत्पन्न है। मान मसा के गुणो का पालन करता ही मानव धर्म है। किसी भी कार्य का कर्त्तव्य रूप म स्वीकार करन मे उस कर्म के संबध मे सत्य का सेवारूपी कर्त्तव्य—पालन का सन्तोष तब ही रह सकता है जब कि वह कर्म समाज के लिय कल्याणकारी होने का प्रतिबन्ध पूरा करता हो। यदि वह कर्म समाज—कल्याण नहीं करेगा, तो वह सत्य न कहा जाकर असत्य कहा जायगा। मनुष्य दान के नाम से जो भी कुछ त्याग करगा वह सत्य के हाथो मे आत्मदानरूपी सच्चे दान के नाम से तब ही सम्मानित हो सकगा। वह समाज मे मनुष्यता को सुरक्षित रखन के उद्देश्य से समर्पित किया गया होगा। समाज मे मनुष्यता की रक्षा की दृष्टि से समर्पित किया हुआ न होगा, तो वह दान न कहलाकर कुदान कहा जायगा। दान की धर्ममूलकता का यही रहस्य है।

सत्यरक्षा मानव का स्वधर्म स्वीकृत हो जाने पर सत्य स्वयमेव स्वीकृत हो जाता है। धर्म स्वीकृत हो जाने पर मनुष्य की संपूर्ण भौतिक संपत्ति सत्य की सेवा में नियुक्त होकर अनिवार्य रूप से लोक—कल्याणरूपी दान का रूप धारण कर लेती है।

यज्ञ, अध्ययन, दान, धृति, सत्य, तप, क्षमा तथा निर्लोभिता यह धर्म का अष्टविध मार्ग बताया जाता है। समाज मे मनुष्यता की रक्षारूपी धर्म के मुख्य उद्देश्य के उपेक्षित होने पर धर्म के नाम से जो भी कुछ किया जाता है, वह असत्य की सेवा होती है।

धर्मेण जयति लोकान।

धर्म रक्षा (सत्य रक्षा) मानव को विश्वविजेता बना देती है।

समाज मे मनुष्यता के संरक्षक धार्मिको की जो निष्ठा और कीर्ति है, वही तो उन लोगों की विश्वविजय है। असत्य का दमन या असत्य का सिर अवनत करने का सामर्थ्य ही धार्मिको की विश्वविजय है। सब लोग विश्व भर की मनुष्यता के प्रतिनिधि ज्ञानियो का विश्वास और आदर करते हैं। यही विजय या असत्य दमन के द्वारा ही विश्वविजेता बनते हैं।

धम से मनुष्य की ऊदध्वगति और अधम से अधोगति होती है।

मृत्युरपि धर्मिष्ठ रक्षति।

मृत्यु भी इस ससार से धम को नही मिटा सकती है। धम सदा जीवित रहता है। इसको केवल प्रलय (विश्व का अ त) ही नष्ट कर सकता है।

इस श्लोक का एक रूप 'मृत्युरपि धार्मिक रक्षति' भी है।

धर्माद्विपरीत पाप यत्र प्रसज्यते तत्र धर्मविमतिमहती प्रसज्यते।

धमद्वेषी पाप जहा कही प्रबल हो जाता या सिर उठा लेता है, वहा धम का महा अपमान होने लगता है। धमद्वेषी असुर अधम के द्वारा अपने ही हार्दिक अधिष्ठात् देवता सत्य का अपमान करता है।

इस श्लोक के दो रूप अ य पुस्तको म हैं।

धर्माद्विपरीत पाप।

और

यत्र-यत्र प्रसज्यते तत्र-तत्र ध्रुवा स्मृति।

धम अर्थात् मानवोचित, क तव्य-पालन से विपरीत कतव्य-हीनता की जो स्थिति है, वही तो पाप है। समाज म मनुष्यता के सरक्षक मानव धम को न अपनाकर उससे विपरीत आचरण करना ही पाप है।

मनुष्य जिस किसी बुरे भले काम मे लग जाता है, उस उसी काय की चिरस्थायी स्मृति रहने लगती है। उसके मन मे उसकी अटल छाप पड जाती है या उसे उसी कार्य के सम्पादन का नैपुण्य प्राप्त हो जाता है।

कुछ पुस्तकों मे यह अधिक श्लोक है।

लोके प्रशस्त स मतिमान।

व्यवहार मे कुशल वास्तव मे बुद्धिमान है। अव्यावहारिक कोई सिद्धान्तवादी बुद्धिमान नहीं कहे जाते हैं।

यह सूत्र भी अधिक है।

सज्जनगर्हितं न प्रसज्येत् ।

गिरे हुए आचरण से समाज में बुरे उदाहरण उपस्थित होकर कुनीति बढ़ती है और उपद्रव खड़े होते हैं। अतएव सज्जन पुरुष गर्हित कार्यों में कदापि न लगें ।

उपस्थितविनाशानां प्रकृत्या कारेण कार्येण लक्ष्यते ।

मनुष्य का व्यवहार ही उसके विनाश की सूचना देता है। विनाशकाल आने पर मनुष्य का व्यवहार वैसा ही हो जाता है ।

पदार्थ का वर्तमान रूप देखकर भविष्य का ज्ञान हो जाता है ।

आत्मविनाशं सूचयत्यधर्मबुद्धिः ।

विनाशोन्मुख मानव की सत्यद्वेषिणी अधमबुद्धि (अधार्मिक कार्यों में प्रवृत्ति) उसके आत्मघात की सूचक है। अपने सत्यस्वरूप का त्याग देना ही उनका आत्मविनाश या आत्मघात है। अधमबुद्धि वाले मानव का आचरण कह देता है कि देख लो लोगो मैं नष्ट होने जा रहा हूं ।

पिशुनवादिनो न रहस्यम् ।

परदोषाविष्कार में लगे रहना परनिन्दक का स्वभाव होता है। वह अपने इस स्वभाव से रहस्य रक्षा की कला भूल जाता है। सूंघ-सूंघकर आखेट ढूंढने वाले कुत्ते के समान परदोष ढूंढता रहता है। उसके पास गोपनीयता नाम की कोई बात नहीं रहती है। ऐसों से गोपनीय बात न कहनी चाहिये।

दुष्ट व्यक्ति स्वभाव से दूसरों को हानि पहुंचाने का अवसर ढूंढता रहता है। वह कानों में दूसरों की गोपनीय बात आते ही उसके सहारे से दूसरों में भेद डालकर, कभी दूसरों में झगड़े पूरने का साधन बना लेता है। किसी भी प्रकार की मन्त्रणा में ऐसे मनुष्य का विश्वास कर उसे अपना सहयोगी कभी नहीं बनाना चाहिए।

पररहस्य नैव श्रोतव्यम ।

दूसरो की गुप्त बात सुनने का अकारण आग्रह न होना चाहिये । जैसे पराये धन का लोभ करना अपहरण प्रवृत्ति है, इसी प्रकार दूसरों की गुप्त बात सुनने का आग्रह होना व्यक्तिगत दृष्टि से अशान्तचित्तता तथा सामाजिक दृष्टि से चचलता के रूप मे निंदित है। इस आग्रह को स्थान न देना इंद्रियसयम मे सम्मिलित है असयत श्रोता तथा वक्ता दोनो ही समाज मे हेय बन जाते हैं । ऐसी प्रवृत्ति शिष्टाचार-विरोधी आचरण होने से सभ्य-समाज मे निंदित होती है ।

वल्लभस्य कारकत्वमधर्मं युक्त ।

स्वामी के मुह लगे लोगो का आचरण अधर्मयुक्त होता है। यह राजा की ऐसी हीन स्थिति है जैसी कि अध्यापक विद्यार्थी की अपनी इच्छा-नुसार चल रहा हो। कारकत्व का अर्थ कारयितृत्व से है। राजा का धार्मिक होना आवश्यक है। धार्मिक राजा राष्ट्र की सबसे बडी आवश्य-कता है। राजा पर धर्म का ही आधिपत्य रहे। इसी मे राजा प्रजा दोनो का ही कल्याण है। उसके ऊपर धर्मातिरिक्त और किसी का भी प्रभाव होना कल्याणकारक नहीं है। प्रजा का कल्याण ही तो राजधर्म है। सत्य के प्रभाव का तपते रहना ही तो प्रजा का कल्याण है। जो राजा अपने ऊपर धर्म के अतिरिक्त किसी भी व्यक्ति का आधिपत्य स्वीकार किये होगा, वह निश्चित रूप से भ्रष्ट होता है। उसके राज्य में अधर्म का नग्न नृत्य होने लगेगा और और अधर्म अपना प्रबल आधिपत्य जमा बैठेगा। राजा अपने ऊपर सत्य की अटल प्रभुता बनाए रखकर ही असत्य-दलन का व्रती रह सकता है तथा अपने राज्य मे सत्य या मनुष्यता के सरक्षक धर्म को जीवित बनाये रख सकता है। अपने ऊपर अधर्म का प्रभुत्व स्थापित कर लेने देना राजा की निस्तेज स्थिति है। धर्म ही तो राजा का राजैश्वर्य है। भ्रष्ट हो जाना तो राज से ही भ्रष्ट होने के बराबर है। धर्मभ्रष्ट राजा पापी हाथो की कठपुतली बन जाता है और वास्तव में राजच्युत हो चुका होता है। धर्मभ्रष्ट राजा का प्रजा पर कोई प्रभाव नही होता है। प्रजा पर राजा का प्रभाव न रहना ही राजा की राजभ्रष्टता है। ऐसा राजा हाथ

मे शासन दण्ड धारण किये रहने पर भी राजभ्रष्ट कहलाता है।

इस श्लोक का एक रूप इस प्रकार है—

मल्लभस्यकातरत्वमधमयुक्तम्

राजा की दीनता अधमयुक्त होती है। राष्ट्र रक्षा नाम का धीर, वीर, गभीर कर्तव्य रखने वाले स्वामी का दीन कातर होना अधमयुक्त, अयोग्यतासूचक, पापान्वित और दुष्परिणामी है। राजा का राजऐश्वर्यशाली तेजस्वी होना अनिवार्य रूप से आवश्यक है। राजा तो हो परन्तु उसके पास ऐश्वर्य न हो यह कभी सभव नहीं है। राजा भी हो और अपने को निबल भी समझे, उसकी दण्ड धारण की अयोग्यता है। यह दीनता उसे दण्ड-धारण मे असमर्थ बनाकर दण्डनीय पापियो का दु साहस बढाने वाली बन जाती है।

स्वजनेष्वतिक्रमो न कर्त्तव्य ।

अपने हितैषियों की उपेक्षा न करनी चाहिए किन्तु उनके साथ यथोचित बर्ताव करना चाहिये। जीवन मे सत्य सुरक्षित रहे इसी म मानव मात्र का कल्याण है। सत्य ही नाना भाति से मानव का कल्याण करने के लिये स्वजनो का तथा उनके हार्दिक प्रेम और श्रद्धा का रूप लेकर प्रकट होता है। इस दृष्टि से सत्य ही मानव मात्र का स्वजन है। सत्यनिष्ठ धार्मिक लोग समग्र मनुष्य-समाज के स्वजन हैं। समग्र राष्ट्र के कल्याण मे अपना कल्याण देखना सत्यनिष्ठ धार्मिक व्यक्तियों के लिये स्वाभाविक होता है।

कुछ पुस्तको मे यह एक सूत्र अधिक है।

स्वजनेष्वतिकामो न कर्त्तव्य ।

अपने हितैषियो के साथ स्वार्थलोलुपता का बर्ताव मत करो। उनसे पारस्परिक कल्याण का सम्बन्ध रखो। सत्यनिष्ठ धार्मिक लोग ही सम्पूर्ण मानव-समाज के स्वजन हैं। स्वार्थान्ध लोग भौतिक लाभ देखते ही सत्य को त्यागकर असत्य का आश्रय लेकर अपना काम बनाने मे सकोच नही

करते हैं। ऐसे स्वार्थान्ध लोग समाज के धार्मिक सदस्यों के साथ शत्रुता किया करते हैं। इसलिये करते हैं कि धार्मिक की सत्यनिष्ठा, स्वार्थलाभी की स्वार्थसिद्धि का विघ्न बन जाती है। सत्यनिष्ठ, धार्मिक व्यक्ति को अपने स्वार्थ का साधन बनाने का दुःसाहस करने वाले लोग अनिवार्य रूप से समाज में अशान्ति उत्पन्न करने वाले देशद्रोही हो जाते हैं। देश के राजाधिकार को ऐसे देशद्रोहियों के हाथों में नहीं देना चाहिये। यह तब तक ही हो सकता है जबकि राष्ट्र का प्रत्येक सदस्य एकमात्र राष्ट्र को ही अपना स्वजन मानकर एक-दूसरे के साथ स्वार्थगन्धहीन बर्ताव करना सीखे। ऐसा करने पर ही राष्ट्र में धर्मराज की स्थापना होना सम्भव है।

मनुष्य इस विश्वपरिवार के पारिवारिक सम्बन्धों में अवतीर्ण हुआ है। पारिवारिक स्वजन विश्वपारिवारिकता सीखने के क्षेत्र मात्र हैं। मनुष्य को स्वजनों को परमार्थदर्शन का क्षेत्र बनाकर रखना चाहिये, न कि उन्हें अपने स्वार्थ-साधन की आखेट-भूमि बना लेना चाहिये। स्वजनों से ऐसा दिव्य व्यवहार होना चाहिये कि उसको भी तत्व-ज्ञान की आंखें खुल जाय और अपने में भी किसी प्रकार का भ्रम या आसक्ति शेष न रहे। स्वजनों से कामना या स्वार्थ का सम्बन्ध रखने पर उनकी घृणा का पात्र बन जाना अनिवार्य है, जिसका अवश्यम्भावी परिणाम उभय पक्ष का कपटी बन जाना होता है। स्वार्थपरता के विवाद तथा सम्बन्ध विच्छेद दो अनिवार्य परिणाम हैं।

मातापि दुष्टा त्याज्या।

दुष्ट होने पर माता भी त्याज्य होती है। शत्रुता करने वाली माता से भी दूर रहना चाहिये। औरों का तो कहना ही क्या है! अतएव दुष्टों से दूर रहना ही सर्वश्रेष्ठ नीति है।

स्वहस्तोऽपि विषदिग्धश्छेद्यः।

जैसे आत्मरक्षा के नाम पर विषाक्त फोडा भी काटना पडता है, उसी प्रकार अहित करने वाले प्रिय से प्रिय व्यक्ति का त्याग करना उचित है।

परोऽपि च हितो बन्धुः ।

रिश्तेदार न होने पर भी यदि कोई हितैषी है, तो उसे भाई समझकर अपना लेना चाहिये। धर्म यही कहता है।

देखने में शत्रु जैसा बर्ताव करने वाला भी यदि हितकारी हो तो वह बन्धु है, बन्धु समझकर अपनाया हुआ व्यक्ति भी यदि अहितकारी हो तो वह दुश्मन है। व्याधि स्वदेहज होने पर भी अपना शत्रु होती है तथा औषध सुदूर अरण्य या पर्वत पर उत्पन्न होने पर भी हितकारी मानी गयी है।

कक्षादप्यौषधं गृह्यते ।

जैसे व्याधिनाशक औषध अरण्य जैसे असम्बद्ध स्थान से लेनी पड़ती है, इसी प्रकार उपकारी व्यक्ति संसारी दृष्टि से हीन होने पर भी उपेक्षित नहीं होना चाहिये।

इस श्लोक का एक रूप यह भी है—

कक्षादप्यौषधंगृह्यते।

जैसे गुंजा से भी औषध तौलने का काम लिया जाता है, उसी प्रकार असम्बद्ध उपकारी व्यक्ति को भी हितैषी मान लेना जरूरी है।

नास्ति चौरेषु विश्वासः ।

चोरों का विश्वास कभी न करना चाहिये। अन्यायपूर्वक संग्रह करने के इच्छुक सबके सब चोर हैं। अनुचित लाभ लेने वाले व्यापारी, उत्कोच लेने वाले तथा स्वेच्छाचारी, शासक, राजकर्मचारी, अन्यायी अदालत के चाटुकार-व्यवहार-जीवी कर्तव्य पालन न करने वाले वक्ता, सच्चा धर्मप्रचार न करने वाले, धर्म प्रचार सच्ची शिक्षा न देने वाले अध्यापक, राजनीति से पृथक रहकर धर्म का प्रचार करने वाले तथा कुशासन का विरोध करने से बचते रहने वाले पत्रकार व्यवस्था-परिषदों के सदस्य, नेता, धर्म प्रचारक तथा धार्मिक संस्थायें आदि सभी चोर श्रेणी में आते हैं। ये सब राष्ट्र के चोर हैं। जिसका जो अधिकार नहीं, उसका उसे चाहना ही चोरी का

मूल है।

इस श्लोक का एक रूप 'नास्ति चौरेषु विश्वास' भी है।

अप्रतीकारेष्वनादरो न कर्त्तव्य ।

शत्रु को प्रतिकार मे उदासीन देखकर उसकी उपेक्षा न करनी चाहिये। अपनी किसी परिस्थिति से विवश होकर उस समय प्रतीकाहीन बनकर रहने वाले राष्ट्र द्रोही पर राष्ट्र प्रेमी शत्रुओं की ओर से असावधान मत रहो। उन्हें कुछ न करता देखकर उनकी ओर से असावधान मत हो जाओ। उनसे शत्रुता मत त्यागो और उन्हे मित्र न बनाओ। अप्रतीकारी होने की अवस्था में परिवर्तन होते ही प्रतीकार-परायण होने मे देर नहीं करेंगे। शत्रु की भोली सूरतो तथा चाटुकारिता भरी मीठी बातो के धोखे मे आकर यह कभी मत भूलो कि दुश्मन सदा दुश्मन ही रहता है।

कुछ पुस्तको मे अधिक सूत्र इस प्रकार है—

व्यसन मनागपि बाधते।

असाध्य विपत्तियो की भी उपेक्षा न करो। अप्रतिकार्य समझकर निराश नहीं हो जाना चाहिये। मनुष्य को अप्रतिकार्य उलझी हुई विपत्तियो के आने पर उन्हीं जैसा कठोर बनकर उनका साम्मुख्य करना चाहिये। वीर मनुष्य को ऐसी विपत्तियो को देखकर अपने प्रयत्नों मे तीव्रता लानी चाहिये। उन्हें अपने कार्यक्षेत्र से मार भगाने का प्रबलतम आयोजन करना आवश्यक है।

अमरवदर्थजातमर्जयेत।

छोटा-सा भी व्यसन मनुष्य के सर्वनाश का कारण बन जाता है। जैसे थोडा-सा भी विष जानलेवा हो जाता है, इसी प्रकार जीवन का थोडा-सा भी बुरा स्वभाव मनुष्य के सम्पूर्ण जीवन का सर्वनाश कर डालता है। जिसमे बहुत से व्यसन हैं, उसके सर्वनाश की तो बात ही मत पूछो। अतएव इनसे बचकर रहो।

अ य कुछ पुस्तको म अधिक सूत्र इस प्रकार है—

व्यसनमना बाध्यते ।

व्यसनासक्त व्यक्ति विनष्ट हो जाता है। अर्थ, सामर्थ्य तथा समय का दुरुपयोग करने वाले निन्दित आचरण व्यसन कहलाते हैं। व्यसन की आधीनता स्वीकार कर लेने वाले दीन-हीन मानव पर उसी के अपनाये व्यसन आपत्तिया खड़ी कर देते हैं। व्यसन आपात-मधुर प्रतीत होने पर भी अन्त म मानव-जीवन का सबसे कठोर शत्रु सिद्ध होता है। व्यसन को थोड़ा-सा नगण्य या मिष्ट समझना भयकर भूल है। छोटा-सा थोड़ा-सा नगण्य व्यसन भी विनाशकारी विस्फुल्लिगक होता है।

अमरतदर्थं जात् मार्गयेत् ।

मनुष्य अपने को अमर मानकर जीवनपर्यन्त जीवन सामग्रियो का अर्जन करता रहे। मनुष्य अर्थोपार्जन के सम्बन्ध में अपने को जरामरण-वर्जित पुरुष मानकर व्यवहार करे। सूत्र कहना चाहता है कि मनुष्य आलस्य, असामर्थ्य या ओढ़े वैराग्य को अपने ऊपर कभी अधिकार न होने दे। वह यह जाने कि उसका शरीर सेवक अर्थात् अपने में उत्तमोत्तम गुणों का विकास कर उनका दिव्यानन्द लेने का एक पवित्र साधन है। प्रभु ही इस ससार मे मानव का एकमात्र सेव्य है। शरीर को सत्य की सेवा मे लगाये रखकर जीवन-साधनो का अर्जन करना मनुष्य का कर्तव्य है। धन कभी भी त्याज्य नहीं है। धन की आसक्ति, उसका लाभ या उसका मोह ही त्याज्य । मृत्यु तो कि [illegible] खड़ी हो सकती है। जब तक मौत क [illegible] न मिले [illegible] के जीवन का एक क्षण भी व्यर्थ [illegible]

अर्

लगता है। इसी प्रकार ऐश्वर्यशाली राजा ही प्रजा की दृष्टि मे बलवान हो सकता है। अतएव राजैश्वर्य ही राज-सत्ता को कायम रखता है।

महेन्द्रमप्यर्थहीनं न बहु मन्यते लोकः ।

संसार अर्थहीन महेन्द्र का भी सम्मान नही करता। ऐश्वर्यहीन राजा सर्वमान्य न हो सकने से राजा नाम पाने के भी अयोग्य हो जाता है। लोग ऐसे राजा को हीन समझने लगते हैं और आदर नहीं करते। उसका पराभव होने लगता है। लोग संसारी व्यवहारो मे भी धनहीन की अवज्ञा किया करते हैं। संसार के लोग शरीर शक्ति मे इन्द्रतुल्य बली होने पर भी अर्थ शक्ति से हीन की अवज्ञा करते हैं।

इस श्लोक का एक रूप यह भी है।

महेन्द्रमप्यर्थहीनमवमन्यते लोकः ।

संसार अर्थहीन महेन्द्र का भी अपमान करता है।

दारिद्र्यं खलु पुरुषस्य जीवितं मरणम् ।

दरिद्रय मनुष्य के लिये मौत के समान है। दरिद्र मनुष्य जीते जी मौत का कष्ट हमेशा भोगता रहता है। दरिद्रतारूपी जीवन मानव का अभिशाप है। अतएव सम्पन्न बनो।

इस श्लोक का एक रूप यह भी है।
दारिद्रयं खलु पुरुषस्य जीवितमरणम्
दरिद्र जीवन मरण के समान है।

विरूपोऽर्थवान् सुरूपः ।

अर्थश्री से शोभित दानी पुरुष सौन्दर्यहीन होने पर भी रुचिकर माना जाने लगता है। धन का सदुपयोग करने वाला ही सच्चा धनवान् या अर्थवान् है। धन का सदुपयोग करने वाले का दैहिक सौन्दर्य उपेक्षित होकर उसका हार्दिक सौन्दर्य ही ज्ञानी समाज में बहने लगता है। धनवान् दानी का कुरूप भी याचकों के मनों को मोहित करने वाला हो जाता है।

रूपलावण्य-हीन देह वाले दानी धनवानों की कुरूपता उनके धन के सदुपयोग से इस दृष्टि से दूर हो जाती और उन्हें सुरूप बना देती है। उनके धन से उपकृत होने वाले याचक लोग उनके दर्शनों से कृतार्थ होते हैं, सदा उनके दर्शन के प्यासे बने रहते हैं। उनकी दानप्रवृत्ति ही उन्हें सुरूप बना देती है। उनके पंच-भौतिक देह की कुरूपता उनकी दानशीलता के कारण दूर हो जाती है। उनका अपने धन का सदुपयोग करने की प्रवृत्ति ही उनकी सुरूपता हो जाती जाती है। ध्यान रहे कि यह सुरूपता दानी धनियों को ही प्राप्त होती है। कृपण विरूपों को ऐसी गुणार्जित सुरूपता प्राप्त नहीं होती है।

इस श्लोक का एक अर्थ इस प्रकार है—

असुन्दर भी अर्थवान धनार्थियों के मुख से सुरूप (या सुपुरुष) कहाने लगता है।

अदातारमप्यर्थवन्तमर्थिनो न त्यजन्ति।

धनार्थी लोग कृपण धनवान को अपनी याचना का पात्र या धनतृष्णा का आखेट बनाने से नहीं चूकते हैं। याचक लोग उसकी दानशक्ति को उत्तेजित करने के लिये उसके सामने प्रार्थी बने ही रहते हैं। वे धनी होने से दान की संभावना देखकर उससे याचना करते चले जाते हैं। धन का दान, भोग तथा नाश तीन अवस्था हैं। सत्पात्र को दान देना, धन का सुरक्षित करने का सर्वोत्तम उपाय है।

उपार्जितानां वित्तानां त्याग एव हि रक्षणम्।

उपार्जित धन का समाज-सेवा में दान ही उसकी रक्षा का पूर्ण प्रबन्ध है। दान दाता का नित्य साथी बन जाता है। हमारे धन का उपयोग हमारे समाज को सद्गुणी सम्पन्न और सुखी बनाने में हो जायगा, तो यह हमारे धन का सर्वोत्तम रक्षाविधान होगा। धन का इससे उत्तम कोई उपयोग संभव नहीं है, कि वह अपने प्रतिपालक समाज को आदर्श समाज बनाने के काम आवे। धन्य हैं वे लोग जिनकी उपार्जित धनशक्ति अपने समाज के कल्याण में लगती है। सत्पात्र में दान करने वाला दाता बनना ही धनवान

की बुद्धिमत्ता है। सत्पात्र मे दान करने वाला धन के सदुपयोग से आत्म-प्रसाद लाभ करता है।

अकुलीनोऽपि धनी कुलीनाद्विशिष्ट।

अपनी धनशक्ति से समाज सेवा का कार्य करने वाला मनुष्य अकुलीन होने पर कुलीन बन जाता है। अतएव धन सेवा सर्वोत्तम है। धनिको को इसका उपयोग करना चाहिए।

नास्त्यवमानभयमनार्यस्य।

नीच मनुष्य को समाज मे अपने अपमान या तिरस्कार का भय नही होता है। इसे वह अपनी प्रशसा ही मान्ता है।

न चेतनवता वृत्तिभयम्।

व्यवहार कुशल चतुर लोगों को अपनी जीविका का भय नहीं होता वह कहीं भी कमा-खा सकते हैं।

न जितेन्द्रियाणां विषयभयम्।

जितेंद्रिय को भी विषय का भय नहीं होता है। भले ही अप्सरा या अगाध सम्पत्ति मुफ्त मे क्यो न मिले?

न कृतार्थाना मरणभयम्।

ससार का रहस्य जानते हुए कर्त्तव्य पालन करने वाले को मृत्यु का भय नहीं होता है। वह सदा मृत्यु का आलिगन करने को प्रसन्नतापूर्वक तैयार रहता है।

मृत्यु का भय उन्ही लोगो को होता है, जो अपने मानवोचित कर्त्तव्य-पालन से अपना जीवन सफल नहीं कर पाते हैं। अपने मानवोचित कर्त्तव्य का पालन करने वाले लोग प्रत्येक क्षण कर्त्तव्यपालन की सफलता के कारण विजयी जीवन बिताने वाले मृत्युजयी बन जाते हैं। यही उनका अपने

जीवन का सार्थक करना ही अमर बन जाता है। जीवन की जो व्यर्थता है वही तो मृत्युभीति है। सत्य मे सम्मिलित जीवन ही सत्यस्वरूप होता है। इसके विपरीत असत्य की दासता करना जीवित रहते हुए भी अमानवोचित जीवन बिताना रूपी मृतावस्था है। असत्यविरोध रूपी अत्याज्य, अनिवार्य कर्त्तव्यपालन करते हुए कर्त्तव्यशील व्यक्ति की सहर्ष वरण की हुई मृत्यु भी उसके कर्त्तव्यपालन का आनन्द है। उसके विपरीत देह का भोगार्थ दुरुपयोग करने वाले व्यक्ति की मृत्यु उसे भोग-सुख से वंचित करने वाली विभीषिका होती है।

कस्यचिदर्थं स्वमिव मन्यते साधु ।

महामति साधु लोग पराये धन को उनके पास रखे हुए अपने धन का सत्य की धरोहर मानते हैं। पराये धन को भी अपने धन के समान ही सदुपयोग मे आता देखना चाहते हैं। व्यक्तिगत धनाध्यक्ष बनने की भावना समाज में स्वार्थबुद्धि का प्रचार करने वाली समाजद्रोही भावना है। व्यक्तिगत धनाध्यक्षतारूपी दूषित भावना को त्यागकर समाज के प्रत्यक सदस्य की भौतिक सम्पत्ति का सदस्य के अधिकारो म आ जाना, सार्वजनिक कल्याण को अपना कल्याण समझने वाली सहानुभूति, समाज-बन्धन या शान्तिदायक सामाजिक आदर्श है। यही साधुओ के जीवन का आदर्श है। साधु लोगों के समाज-सगठन में सुप्रतिष्ठित कर देना ही राज-धर्म है। इसी को 'महाजनो येन गत स पन्था' कहा जाता है। यही राज-चरित्र आदर्श समाज की रचना करने वाला समाजबन्धन है। साधु लोग किसी के धन को पराया मानकर उसका लोभ नहीं करते हैं।

परविभवेष्वादरो न कर्त्तव्य ।

दूसरे के धन पर लोभ नही करना चाहिए। यह महापातक है। अपनी ही अर्जित सम्पत्ति पर मनुष्य को अपना अधिकार मानना चाहिए।

दूसरे के धन का लोभ महा अवगुण माना गया है। अतएव उसे देखना भी नही चाहिए।

परविभवेष्वादरोऽपि नाशमूलम् ।

दूसरो के धनों को लोभनीय दृष्टि से देखना भी मानव के सामाजिक बन्धन का घातक तथा सर्वनाश का कारण होता है। मनुष्य धनलोभ से भ्रमित होकर अपनी समाज-कल्याणकारी कर्त्तव्यबुद्धि या कार्याकार्य-विवेक को खो बैठता है। परविभवो का लोभ समाज मे अशान्ति, पाप तथा विषाद पैदा करता है।

पलालमपि परद्रव्य न हर्तव्यम् ।

किसी का तिनका जितना क्षुद्रतम धन तक नहीं चुराना चाहिए। अनाधिकारपूर्वक किसी की क्षुद्रतम वस्तु लेना भी अपहरण या चोरी है। चोरी के अपराध की गुरुता या लघुता का अपहृत की गुरुता लघुता के साथ कोई संबंध नहीं होता है। चोरी किसी कर्म का नाम नहीं है। चोरी तो भावना का नाम है। चोरी की भावना ही चोरी है। चोर छोटी से छोटी वस्तु की चोरी कर अपनी इस मनोवृत्ति का परिचय देता है कि उसका मन किसी बड़ी वस्तु की चोरी के अवसर ढूढ रहा है। समाज मे चोरी की भावना को मिटा डालना ही समाज कल्याणकारिणी सच्ची समाज-सेवा है। राजा या राज-अधिकारी लोग स्वय इस आदर्श को अपनाकर ही अपने राजचरित्र के आदर्श को समाज में सुप्रतिष्ठित कर सकते हैं।

परद्रव्यापहरणमात्मद्रव्यनाशहेतु ।

पराये द्रव्य का अपहरण अपने द्रव्य के विनाश का कारण बन जाता है। चोरी का धन कभी शरीर को लाभ नहीं देता है। वह अनेक विपदाओं का कारण बनता है। अतएव यह निंदनीय अपराध है।

न चौर्यात्पर मृत्युपाश ।

मृत्यु का पाश चोरी के पाश से अधिक दु खदायी नहीं होता। चोरी करना अपने मनुष्यतारूपी स्वरूप की हत्या कर भौतिक मौत मरना है।

चोरी से मनुष्य की मनुष्यता, धन, यश तथा शरीर सभी सकटापन्न हो जाते हैं ।

यवागूरपि प्राणधारण करोति लोके ।

ससार में शरीर रक्षा के लिये तो भूखा रहना भी पर्याप्त है । चोरी, उत्कोच, लुण्ठन, प्रतारणा द्यूत आदि लोभज अमानवोचित उपाया से अनाधिकार षट्‌रस भोजन तथा नानाविध ऐश्वर्य पाकर नैतिक मत्यु को अपना लेने से तो यही अच्छा है कि राज अधिकारी लोग सत्योपार्जित लक्ष्मी से जीवन धारण कर अमरत्व पाकर आत्मकल्याण करें और समाज के सामने नैतिकता का आदर्श सुप्रतिष्ठित करें ।

न मृतस्यौषध प्रयोजनम् ।

मर चुकने के पश्चात् औषध प्रयोग का काम समाप्त हो जाता है ।

मनुष्य की कर्त्तव्यबुद्धि ही अपने समाज को जीवित रखने वाली है । मनुष्य जीवन का एक भी क्षण समाज की सच्ची सेवा करने के कर्तव्य से हीन नहीं रहना चाहिये । मनुष्य का सम्पूर्ण जीवन एक कर्त्तव्य है । इस जीवन व्यापी कर्तव्य को छोडकर मानव-जीवन मे नष्कर्म्यस्थिति को अपनाने का कोई अवकाश नहीं है । जीवन काल मे मन मे ऐसी भावना को स्थान देना कि "हमारा कर्त्तव्य समाप्त हो चुका है।" अकालमत्यु-नामक अमानवीय स्थिति को अपनाना है । अपने जीवितकाल को कर्तव्य-हीन स्थिति मे बिताना, मानो अज्ञात की मौत मर जाना है ।

समकाले स्वयमपि प्रभुत्वस्य प्रयोजन भवति ।

साधारण काल मे अपना प्रभुत्व बनाये रखना ही स्वय कर्त्तव्य का रूप लेकर उपस्थित रहा करता है । सधि, विग्रह आदि जटिल प्रश्नों के उपस्थित न होने पर साधारण काल में ससार मे अपनी प्रभुता को जीवित रखते रहना भी एक राष्ट्रीय प्रयोजन होता है ।

नीचस्य विद्या पापकर्मणि योजयन्ति ।

नीचो की चतुराइया या पदार्थविज्ञान आदि कौशल उनके समस्त

बुद्धिवैभव उन्हें विनीत, सुजन, उपकारक तथा अधार्मिक न बनाकर उन्हे चोरी, कपट, माया, जिम्ह, अनृत, परवचन, लुण्ठन, अधिकार भोग आदि पापकर्मों मे लगा देते हैं। नीच लोगो मे सुविद्याजनित फल नहीं पाया जाता। मनुष्य को पाप से न रोककर पाप करने की कला सिखा देने वाली विद्या न होकर अविद्या है। मनुष्य शुकविद्या के अध्ययन से पाप से नही बच पाता है किन्तु शिष्टो के वातावरण का अग बनकर उनसे शिष्टाचार, सौजन्य, विनय तथा कर्त्तव्याकर्त्तव्य विचार सीखकर ही पाप से बचकर गौरव प्राप्त कर सकता है।

पय -पानमपि विषवर्धनं भुजगस्य नामृत स्यात।

जैसे साप को दूध पिलाना उसका बिष बढाना होता है अमृतोत्पादक नही, इसी प्रकार नीचो का विद्या लाभ उनकी नीच प्रवृत्तियो को ही अनेक गुणा कर देन वाला बन जाता है।

न हि धान्यसमो ह्यर्थ ।

ससार म अन्न जैसा जीवनोपयोगी पदार्थ कोई नही है। जीवन धारक पदार्थों म अन्न का सबसे महत्वपूर्ण स्थान है। अन्न स्वय ही अर्थोपार्जन का लक्ष्य है। इसी से अन्न ससार का सर्वश्रेष्ठ पदार्थ है। "अन्न वै प्राणिना प्राणा" अन्न ही प्राणियो के प्राण हैं। समस्त भूमण्डल के एकत्रित रत्नादि पदार्थ एक भी मनुष्य की भूख नही मिटा सकते हैं।

न क्षुधासम शत्रु ।

राज्य का अन्नभावजनित दुर्भिक्ष या अपरितृप्त क्षुधा के समान कोई शत्रु नही है। भूखा क्या पाप नही करता के अनुसार अन्न न पा सकने वाली जनता म पारस्परिक लुठन आदि अशान्ति उत्पन्न होना अवश्यम्भावी है। इसलिये राजा लोग राज्य मे क्षुधा का हाहाकार न होने देने के लिय सुदृढ उपायो का अवलम्बन करें। शत्रु तो धनादिका ही अपहरण करता है, क्षुधा तो शरीर इन्द्रिय तथा प्राण तक हर लेती है। राजा क्षुन्निवृत्ति के लिये अन्नोत्पत्ति मे प्रजा की भरपूर सहायता करे।

अनृतेनियता क्षुत् ।

अकमण्य निकम्मे आलसी मनुष्य भूखो मरते हैं ।

कमप्रवण लोग अपने पुरुषाथ से धनधान्यादि पाकर अपनी और दूसरों की क्षुधा मिटा देते हैं । किसी राष्ट्र मे लोगों का भूखों मरना उसके लिये महा अभिशाप है । राजा लोग भूख मे मरने का प्रसग न आने देने के लिये बेकारी की उत्पत्ति और वृद्धि न होने दें । उसे बलपूवक रोकें । धनी या निर्धन किसी को भी कमहीन रखना वैधानिक अपराध माना जाना चाहिये । समस्त प्रजा को जीविका से सपन्न बनाकर रखना चाहिये । श्रम सब के लिये अपरिहाय होना चाहिये । मनुष्य आलस्य त्यागकर सत्यानुमोदित जीवन धारण करने के लिये आवश्यक उद्योग नही करेगा तो क्षुधा बाधा नहीं हटेगी ।

नास्त्यभक्ष्य क्षुधितस्य ।

क्षुधापीडित के लिये अभक्ष्य कुछ नहीं रहता है । बुभुक्षित लोग घास, पात, वृक्षो की छालें, मिट्टी, नरमांस आदि अमानवोचित आहार करने पर उतर आते हैं । 'कष्टात कष्टतर क्षुधा' भूख ससार का सबसे बड़ा कष्ट है । राजा लोग 'भूखा क्या नही करता' इस डर से अपने देश को सम्पन्न बनाये रखें ।

इन्द्रियाणि जरावश कुर्वन्ति ।

इन्द्रियों का मर्यादाहीन उपयोग मनुष्य को समय से पहले वाधक्य के आधीन कर देता है । इन्द्रियाधीनता ही वाधक्य है । इन्द्रियो पर प्रभुता मनुष्य का अक्षय यौवन है । ज्ञानी मानवो के जीवनो में वाधक्य दूषित माना गया है ।

प्रकृति योग्य प्रबन्धक और विजेता बनकर आत्मप्रसाद लाभ करने के लिये मिली है । इन्द्रिया भी उसी प्रकृति का एक भाग हैं । दो प्रकार के मनुष्य हाते हैं । एक वे जो अपनी प्रकृति पर अपना वश रखते हैं, दूसरे जो अपनी प्रकृति की आधीनता में उसके गुलाम बनकर रहते हैं या तो मनुष्य

अपनी शक्तियो का स्वामी बनकर रहे या अपनी शक्तियो की दासता स्वीकार करके रहे ।

सानुक्रोश भर्तारमाजीवेत् ।

जो प्रभु अपने सेवक की मनुष्यता का सम्मान अपनी मनुष्यता के समान ही करता हो वही सेव्य बनाने योग्य होता है। निदय प्रभु के आश्रय से जीविका सदिग्ध होती तथा अवनति की सभावना बनी रहती है। किसी कारण सदय प्रभु से धन न भी मिल सके, तो भी दया तो सुलभ रहती है।

लुब्धसेवी पावकेच्छया खद्योत धमति ।

सहानुभूतिहीन प्रभु का सेवक बैल से भी दूध दुहना चाहता है और फूक मार कर आग जलाना चाहता है। ऐसे सेवक पर तो दया ही करना चाहिए।

ऐसे स्वामिभक्त सेवक भी व्यथ है, जिनमे अपनी बुद्धि न हो।

विशेषज्ञ स्वामिनमाश्रयेत् ।

गुणों का आदर करने वाले, गुणों को पहचानने वाले स्वामी की ही सेवा करना स्वीकार करे। गुणी सदा गुणादरी व्यक्ति का ढूढा करता है। गुणादरी स्वामी का आश्रय चाहने वाले का स्वय गुणी होना जरूरी होता है। गुणादरी स्वामी की सेवा मे गुणी के मनोरथ का पूरा होना निश्चित होता है।

पुरुषस्य मैथुन जरा ।
स्त्रीणाममैथुन जरा ।
न नीचोत्तमयोर्विवाह ।

नीच और उत्तम मे वैवाहिक सम्बन्ध नही होने चाहिये। विवाहप्रथा का उद्देश्य समाज में शान्ति की शृखला बनाए रखना है। विवाहप्रथा न रहे, तो समाज निर्बाध व्यभिचार का क्षेत्र बन जाये। मनुष्य की वैवाहिक

प्रवृत्ति मे सयम का सन्निवेश कर समाज-कल्याण करना ही मनुष्यता का आदर्श है। इस आदर्श को नष्ट न होने देने तथा समाज को असयम के मार्ग पर न चलने देने के लिये ही विवाहप्रथा के रूप मे सामाजिक शासन प्रचलित है।

प्रत्येक सामाजिक व्यवहार मे पात्रापात्र, योग्यायोग्य का विचार करना मनुष्य का पहला कर्त्तव्य है। वैवाहिक सबध के लिये उच्चकुल छाटना आवश्यक है। आदर्शप्रेमी, सयमी, जितेद्रिय लोग ही समाज में उच्च मानने योग्य हैं। आदर्शप्रियता सयम, जितेद्रियता ही उच्चकुल का लक्षण है। आदर्शच्युत स्वच्छाचारी लोग नीचकुल समझे जाने चाहियें। आदर्श च्युति तथा स्वेच्छाचारिता ही कुलों की निम्नगामिता है। उच्चता मनुष्य का स्वभाव तथा पतन उसकी अस्वाभाविक दशा है। गार्हस्थ्य जीवन मे प्रवेश करते समय वैवाहिक सम्बध के इस कल्याणकारी सम्बध को ध्यान मे रखकर ही गार्हस्थ्य जीवन मे प्रवेश उचित है।

अगम्यागमनादायुयश पुण्यानि क्षीयन्ते। नास्त्यहकारसम शत्रु ॥

अहकार से बडा कोई शत्रु नही है। यहा जिस अहकार को शत्रु कहा गया है, वह भौतिक सामर्थ्य का दभ है। यहा अहकार के नाम से निंदित कर उसे शत्रु कहा गया है। यो तो यह सारा ही ससार अहम्मय है। दाम्भिकलोग भौतिक सामर्थ्य के उपासक होते हैं। भौतिक सामर्थ्य की दासता ही धनबल, जनबल देहबल रूपी आसुरिकता है। अपने से अधिक बलशाली का तो दास बन जाना तथा अपने से निर्बल पर आक्रमण करना ही अहकार या असुर स्वभाव है। देहात्मबुद्धि को ही अपना स्वरूप समझना अहकार की परिभाषा है। मनुष्य की इद्रियलालसा का ही नामान्तर देहात्मबुद्धि है। यह भावना ही मनुष्य की भूल या अज्ञान है कि हम भोगने वाले हैं तथा रूप, रस आदि विषय हमारे भोग्य हैं। हम इस ससार मे इन्हे भोगने के लिये आये हैं। इन्हें भोगने के अतिरिक्त हमारे पास और कोई काम ही नहीं है।" इद्रियो मे भोगप्रवृत्ति को अपना स्वभाव मान लेना अज्ञानरूपी अहकार है। अज्ञानी मनुष्य के पास आत्मतृप्ति नाम की कोई अवस्था नही होती है। वह सम्पूर्ण जगत् को अपने भोग्य रूप मे देखना चाहता है। जगत् को अपने भोग्य रूप मे देखना और जगत के

पदार्थों को देख-देखकर अपने मन मे कामाग्नि सुलगा लेना ही बन्धन है। कामाग्नि रूपरसादि विषयो की आहुतियो से नही बुझती है। कामाग्नि का बुझते रहना ही मनुष्य जीवन की अखण्ड शान्ति का आदश है। अपनी इन्द्रियों को ही अपना स्वरूप समझकर, उन्ही को भोक्ता न मानकर देह के स्वामी देही को अपना स्वरूप समझ लेना ही ज्ञान है। देह स्वभाव से नित्य मुक्त रहने वाली सत्ता है।

जब मनुष्य अपने इस रूप से परिचित हो जाता है, तब भोगो के कीचड़-से निकल जाता है तथा उसका बन्धन रहित स्वभाव विजयी होता है। अज्ञानरूपी भोगबन्धन मनुष्य का परम शत्रु है। भोगबन्धन ही राज अधिकारों को कर्तव्यभ्रष्ट करने वाला उनका परम शत्रु है। भोग निपेक्षता रूपी ज्ञान ही राज अधिकारो की प्रतिष्ठता बढ़ाने वाला है।

स सदि शत्रु न परिक्रोशेत्।

सभा मे शत्रु के क्रोध को उत्तेजित करने वाली कटुवाणी या अपभाषण करके विचार सभा को छेड़छाड की सभा मत बनाओ। सभा मे शत्रुपक्ष या उसके वक्ता की व्यक्तिगत निन्दा कर मुख्य विचारणीय विषयो को खटाई में मत डालो। सौजन्य तथा शिष्टाचार की मर्यादा में रहते हुए अपन पक्ष का मण्डन तथा शत्रुपक्ष का खण्डन करो। सभा मे भाषण करने की एक मर्यादा होती है। उसका उल्लघन न करते हुए ही विवाद्य विषय पर आक्षेप या परिहार किये जान चाहियें। अभिप्राय नही कि सभा में अपभाषण या वाग्युद्ध छेडा जाय। शत्रु की अनुचित बात का खण्डन भी न किया जाय। तात्पर्य यह है कि सभा मे ही शत्रु के साथ वाग्युद्ध का स्वाभाविक क्षेत्र होने के कारण वहां शत्रु की ओर से उत्तेजना का कारण पाकर भी अपना वक्तव्य सयत सुसभ्य भाषा मे रखना चाहिये। शत्रु के मन मे रोष पैदा करने वाली उसकी व्यक्तिगत निन्दा करना हानिकारक है। असयत छेड़छाड का परिणाम यह होगा कि वह रुष्ट होकर अपमानित करने वाली मर्मभेदी बातें कहने पर उतर आयेगा और तब सभा का उद्देश्य ही धूल में मिल जायगा।

शत्रुव्यसन श्रवणसुखम्।

शत्रु की विपत्ति श्रुति मधुर होती है। अपने शत्रु को विपन्न कर

डालना ही सत्यनिष्ठ विद्वान के सफल कर्तव्य का एकमात्र ध्येय रहता है। कोई विद्वान असत्यदलन का अहंकार भी करे, असत्य मार्ग पर चलने वाला उसका शत्रु विपन्न न होकर सम्पन्न अर्थात् अपनी भौतिक शक्ति के घमण्ड मे निश्चिन्त बना रह जाय, तो समझना चाहिये कि उसका शत्रु का कर्तव्य अपालित रह गया है। शत्रु के साथ प्रतिक्षण वह बर्ताव करके हर्षित रहना चाहिये जिस से उसके शत्रु का जीवन पग-पग पर कष्टकाधीन होता रहे। सत्यनिष्ठ व्यक्ति की दृष्टि मे शत्रु के व्यसन के श्रवण-सुख होने का यही रूप है। परस्पर शत्रुता रखने वाले दोनो पक्ष एक-दूसरे को मिटान का ही उद्देश्य रखते हैं। उनकी शत्रुता का अभिप्राय होता है। सत्य मिथ्या मे वध्यघातक सम्बन्ध सदा से चला आ रहा है। एक सच्चा और दूसरा अन्यायी होना अनिवार्य है। सत्यनिष्ठ व्यक्ति असत्य को मिटाकर अपने जीवन व्यवहार मे सत्य को ही विजयी बनाने का विचार रखता है। उसके इस लक्ष्य म विघ्न डालने वाला ही उसका शत्रु होता है, जिसे वह मूर्तिमान असत्य माना करता है। सत्यनिष्ठ व्यक्ति अपने शत्रु को मिटाना चाहता है। शत्रु की विपन्नस्थिति उसके असत्य दमन रूपी उद्देश्य के अनुकूल होने से उसके लिए सुखप्रद होती है, पर असत्यनिष्ठ व्यक्ति पर काकतालीयन्याय से आपत्ति आई देखकर प्रसन्न हो जाना मात्र ही सत्य का विजयोल्लास नही कहा जा सकता है।

अधनस्य बुद्धिर्न विद्यते।

धनहीन व्यक्ति की बुद्धि नष्ट हो जाती या प्रसृत होने के अवसरो से वंचित हो जाती है। अर्थाभाव से जीवन यात्रा की चिन्ता से व्याकुलता बने रहने से बुद्धि धीमी पड़ जाती है तथा प्रतिभा सो जाती है। निधनता की स्थिति मे बुद्धि को हताश निराश न होने दे स्थिर रखना, धनहीन मनुष्य का कर्तव्य होता है। बुद्धिमान् व्यक्ति समाज की शक्ति होते हैं। राजसस्था का निर्माण करना इन्हीं लोगो का काम होता है। राजा अपनी राजसस्था मे राष्ट्र के बुद्धिमान् व्यक्तियों को मुख्य स्थान देकर सच्ची राष्ट्र सेवा करने मे तब ही समर्थ हो सकता है, जब कि वह समाज के बुद्धिमान् लोगों को निर्धन बनने से सुरक्षित रखने का उचित प्रबन्ध करे।

धन स्वभाव से ही धनोपासकों के पास रहता है। धन ही धनोपासकों के जीवन का ध्येय होता है। धनोपासक धन के लिये अपने मन की मूल्यवान् पवित्रता को नष्ट कर चुका होता है। मन की पवित्रता या सचाई लक्ष्य वाले को मन की पवित्रता को सुरक्षित रखने के लिये धन का बलिदान देना पड़ता है। सच्चे बुद्धिमान् वे ही लोग हैं, जो अपनी सचाई को सुरक्षित रखकर मनुष्यता नाम के सच्चे धन के धनवान् रहना अपना लक्ष्य बना लेते हैं। इसी से वे समाज में श्रद्धा की दृष्टि से देखे जाते हैं। ऐसे लोग राष्ट्र के भूषण होते हैं। समाज में मनुष्यता को जीवित रखने के नाम पर मनुष्यता का संरक्षक करने वाली राजसंस्था बनाने को अपने जीवन का सर्वश्रेष्ठ, सर्वमहान् कर्तव्य बना लेते हैं।

हितमप्यधनस्य वाक्यं न श्रृणोति।

गरीब आदमी की अच्छी बातों पर भी कोई ध्यान नहीं देता है। उसे लोग केवल मजाक में लेते हैं और उसका उपहास करते हैं।

अधनः स्वभार्ययाप्यवमन्यते।

परिवार के लिये जीवन साधन न जुटा सकने वाला निर्धन अपनी पत्नी से भी अपमानित होता है। पत्नी आदि परिवार की जीवन यात्रा में धन की आवश्यकता होती है। पारिवारिकों की जीवन यात्रा के लिये गृह-पतियों का धनपति होना आवश्यक है, जैसे वृक्षवासी पक्षी फलपुष्पपत्रहीन सूखे वृक्षों को या जैसे जलवासी पक्षी शुष्क सर को त्याग देते हैं, इसी प्रकार धनहीन मानव अपने स्वजनों की श्रद्धा तथा स्नेह से वंचित हो जाते हैं। यह राजा का ही उत्तरदायित्व है कि वह राष्ट्र के बुद्धिमान् लोगों को धनाभाव के कारण पारिवारिक अशान्तिजनक व्यग्रता से राष्ट्र के लिये अनुपयोगी तथा बेकार न होने दे। उन्हें राष्ट्र सेवा के लिये क्षमशील बनाये रखे। जो लोग पारिवारिक सुख चाहें वे परिवार की जीवन-यात्रा के लिये वैध उपायों से धनसंग्रह करें।

पुष्पहीनं सहकारमपि नोपासते भ्रमराः।

जैसे भौंरे पुष्पकाल बीत जाने पर पुष्पहीन प्रिय आम्रवृक्ष को भी

त्याग देते हैं, इसी प्रकार यह धनजीवी संसार निर्धन व्यक्ति के पास अपनी धनाकांक्षा की पूर्ति की संभावना न देख, उसे त्याग देता है। बुद्धिमानों की धनहीनता को दूर कर उन्हें समाज में उपेक्षित होने से बचाना राष्ट्र सेवक राजा का उत्तरदायित्व है ताकि राष्ट्र सुबुद्धिपरिचालित तथा सन्मार्गगामी बना रह सके।

विद्याधनमधनानाम्

विद्या निर्धनों का स्थायी धन है। विद्या के द्वारा मनुष्य सर्वत्र सम्मान पाता है। निर्धन होते पर भी संसार में पूजनीय बन जाता है।

यह विद्या ही मनुष्य का श्रेष्ठ गुण है।

विद्याचौरैरपि न ग्राह्या।

विद्या मनुष्य का ऐसा धन है, जो चोरों द्वारा चुराया ही नहीं जा सकता है।

विद्या विद्वानों का अक्षय, अचौर्य अविभाज्य, अनपहरणीय तथा व्यय से वर्धिष्णु धन है। अपने विद्या धन से सन्तुष्ट विद्वान् को सन्तोषधन स्वतः प्राप्त रहता है। विद्वान् होते हुए भी संतोष से वंचित रहना मूर्खता है।

विद्या मनुष्य का असाधारण सौन्दर्य तथा गुप्त धन है। राजाओं में विद्या पुजती है धन नहीं। विद्याविहीन मनुष्य पशु है। विद्या चोरों से चुराई नहीं जाती, भाइयों से बांटी नहीं जाती, भार नहीं बनती। जितना व्यय करो उतनी ही बढ़ती है। सचमुच विद्याधन समस्त धनों में शिरोमणि है। "जीवनसाफल्यकरी" तथा "अर्थकरी" भेद से विद्या के दो रूप हैं। समाज को अर्थकरी विद्योपार्जन का प्रतीक्षक बनाना राष्ट्र को व्याधिग्रस्त बना डालना है। सर्वत्र धनोपासना का विकृत रूप मनुष्य समाज की बुद्धि को भ्रष्ट कर रहा है। समाज के बुद्धिमान् लोगों को अपने राष्ट्र को इस व्याधि से मुक्त रखने के लिये उसे समाजद्रोही भोगैश्वर्य-परायण प्रतारकों के हाथों से बचाकर रखना चाहिये।

विद्याख्यापिता ख्याति ।

विद्या स य॒" का विस्तार होता है। जिस राज मे सच्ची विद्या का आदर होना है उस राज की प्रजा मे राजा का सुयश अनिवाय रूप से फैलता है। राजा विद्या का आदर करके ही प्रजा के हृदय मे अपना सिंहासन स्थापित कर सकता है। प्रजा मे ज्ञानलोक का प्रचार होते ही राज-व्यवस्था मे गुणी लोग सुगमता से प्रवेश पा जाते हैं। राज सस्था का उत्कृष्ट निर्माण प्रजा की सुमतिपूण सम्मति से ही सभव है। राजसस्था के सुनामी होने पर प्रजा की शुभकामना राजा का नित्य साथी बन जाती है। राजा, प्रजा के स्वार्थों की भिन्नता भयकर राष्ट्रीय विपत्ति है। प्रजा की शुभकामना मानना ही राजा के पाने योग्य यश है। राजा का विद्यानुरागी होना ही, उसके यश की योग्यता ह।

यश शरीर न विनश्यति ।

मनुष्य का भौतिक शरीर मरता है। उसकी यश देह नही। उसकी कीर्ति बराबर बनी रहती है।

राजसस्था का यशस्वी विद्वानो से सुप्रभावित रहना ही राजा का यश शरीर है। ऐसे यश शरीर का शरीरी विद्याप्रेमी प्रजावत्सल राजा अपनी नश्वर देह का अन्त हो जाने पर भी अपने राज की राजभक्त प्रजा के हृदय-पर बना रहता है।

य परार्थमुपसर्पति स सत्पुरुष ।

जो दूसरो के कल्याण करने म आगे बढ़ता है, वही सत्पुरुष है। सचाई मे ही सबका कल्याण है। सबके सामूहिक स्वाथ मे अपना स्वाथ देखने वाला जो मानव दूसरों के कल्याण के लिये आगे बढ़ता या दूसरो की सत्याथ विपत्तियो मे हाथ बटाता है, वही सत्पुरुष है।

स्वाथ जीवों की प्रवृत्ति स्वभाव से होती है। यह मनुष्य की अज्ञान-मयी स्थिति है। ससार मे अज्ञानियों का ही बहुमत होता है। पराथ मे सदुपयोग करना ज्ञानमयी स्थिति है। वह दुलभ स्थिति है। विचारशीलता

का ससार मे प्राय अभाव रहता है। मनुष्य की जो बुरा या भला करने की स्वतन्त्रता मिली है, मनुष्य उस स्वतन्त्रता का मूल्य न समझकर अनुभव दुपयोग करने से अविचारशील बनता है। विचारशीलता से प्रत्यक्ष भौतिक हानि तथा अविचारशीलता से प्रत्यक्ष भौतिक लाभ की सभावना देखकर ससार मे अविचारशीलों का ही आधिक्य होता है। इस भेपमनो वृत्ति से निवत्त रहने के लिये मनुष्य को सत्य तथा मिथ्यालाभ का भेद जानना चाहिये।

अभ्युत्थान को अपना ही अभ्युत्थान मानकर उसकी सेवा में आत्म समपण कर देते, तभी समपण मे अपने जीवन की परम कृतकृत्यता अनुभव करते हैं। ऐसे लोग सत्यार्थी विपन्न के विपद्वारण मे प्राप्त होने वाले अपने कष्टो को नगण्य बनाकर हित-साघन मे सत्य की सेवा का आनन्द लेते हैं। सत्य को ही अपने स्वजन के रूप मे पाकर सत्यनिष्ठ व्यक्तिमात्र मे आत्मा नुभूति कर उसके सु ख-दु ख के स्वभाव मे भागीदार बन जाते हैं।

इन्द्रियाणा प्रशम शास्त्रम ।

इद्रियो को शान्त रखने वाली शक्ति ही 'शास्त्र' है। मनुष्य के मन में विपयभोगो के प्रति लम्पटना को रोकने तथा टोकने वाली जो आन्त-रिक सनातन प्रवृत्ति है, मनुष्य का ईश्वररचित शास्त्र दैवी ग्रन्थ है। मानव जीवन मे इन्द्रियो का विजित होकर रहना ही मानव की सच्ची शान्ति का स्वरूप है।

अशास्त्रकायवृत्तौ शास्त्राकुश निवारयति ।

अवैध काय करने की भावना आने पर शास्त्रांकुश (जितेन्द्रिय-मन का अकुश) उसे रोक देता है। इन्द्रियो के साथ विपयो का सपर्क होकर मन में अकाय करने की उत्तेजना आ जाने पर जितेन्द्रियतारूपी हृदयस्थ जीवितशास्त्र उत्तेजित इन्द्रियों को अपने ज्ञानाङ्कुश से वशीभूत कर उन्हें कुमार्ग से हटाया करता है। अवैध काय करने की अभिलाषा उत्पन्न होते ही विवेकी मन में उस दुरभिलाषा के प्रति भयकर विद्रोह खड़ा हो जाता है, जो उसे काय रूप में परिणत नहीं होने देता है। अपनी

दुरभिलाषा को रोकने से मन में एक ऐसी अदम्य शक्ति पैदा होती है, जो मनुष्य को महापुरुष बना देती है। अपनी शक्ति को दुरुपयोग से रोके रहना ही मानव का महात्मा रूप है।

नीचस्य विद्या नोपेतव्या।

नीच की विद्या (शास्त्रज्ञान) नहीं लेनी अर्थात अग्राह्य होनी चाहिये। नीच की विद्या नीचता का ही साधन रहने के कारण अविद्या के नाम से निन्दित होने योग्य तथा घृणित होती है। नीच की विद्या नीचता को चरितार्थ करने का साधन बन जाती है।

म्लेच्छभाषण न शिक्षेत।

म्लेच्छ की भाषा न सीखें। म्लेच्छों में प्रचलित असभ्य भाषण, गन्दी गाली, अपमानकारी वाणी, अश्लील लोकोक्ति, उपन्यास, गल्प कथा आदि सब म्लेच्छभाषण की श्रेणी में आते हैं। शिक्षा का मुख्य ध्येय मनुष्यतारूपी म्लेच्छरुचि रोक रहने वाले समाज में न आने देना है। म्लेच्छपन किसी भौगोलिक सीमा में सीमित नहीं है। नीच लोगों की नीच प्रवृत्ति ही म्लेच्छ मनोवृत्ति के रूप में आत्म प्रकाश करने का अवसर ढूंढती रहती है।

म्लेच्छानामपि सुवृत्त ग्राह्यम्।

म्लेच्छों से भी सुवृत्त सीख लेना चाहिये। म्लेच्छ भी हो तथा वह कोई सुवृत्त भी रखता हो यह परस्पर विरोधी बात है। म्लेच्छों में केवल एक ही सुवृत्त पाया जाता है कि वे अपने म्लेच्छ स्वभाव में मुग्ध रहने का हठ नहीं त्यागते हैं। अपने स्वभाव में दृढ़ रहने का हठ ही उनमें सीखने की अनुकरणीय वस्तु है। उनकी दृढ़ता ही उनका सुवृत्त है। म्लेच्छ दमन करने के लिये हमारे देश में भी म्लेच्छों जैसी दृढ़ता तथा संगठन होना आवश्यक है।

गुणे न मत्सरः कर्तव्यः।

गुणद्वेषी न होकर गुणग्राही होना चाहिये। गुणी के गुण से द्वेष या

षणा करन वाले को दोष प्यारे लगते हैं। दोषों से प्यार करना दुष्टता है। गुणों से मत्सर करना दुष्ट स्वभाव है। गुणमात्सर्य से समाज में ज्ञान का निरादर होता है। हिंसा द्वेष आत्मकलह का वातावरण बन जाता है गुण द्वेषित असुर स्वभाव है। गुण को देखकर हर्ष होना चाहिये।

गुणहितकारी होने से पूजनीय होता है। 'गुणैरुत्तमता याति, मनुष्य गुणों से ही उत्तमता, श्रेष्ठता का लाभ उठता है। गुण समाज के हित के लिये जरूरी है।

शत्रु अपि सुगुणो ग्राह्य ।

शत्रु ही विरोध करना कर्त्तव्य होता है। कभी शत्रु के गुणों का आदर करने का अवसर मिले, तो अपनी गुणग्राहिता का परिचय देते हुए उचित बर्ताव करना चाहिये। कुछ लोग शत्रुताचरण करने के अभ्यासी होते हैं। ये लोग असत्य के दास तथा सत्य के द्वेषी होते हैं। असत्य की दासता तथा इनके सत्यद्वेष को कभी भी इनका गुण नही माना जा सकता है। इन लोगो के पास रणकौशल नाम की जो वस्तु होती है वही इनसे सीखने योग्य गुण होता है। अपने प्रतिपक्षी को पराजित करने के लिये इनके पास जो रणकौशल होता है असत्यविद्रोही सदाचारी को भी शत्रुदमन के लिये उस रणकौशल की ही आवश्यकता होती है। इसलिये धर्मसंस्थापक वीर की दृष्टि में विपक्ष दमन की चतुराई ही शत्रु के गुण के रूप में आदरणीय वस्तु होती है। जब कभी शत्रु के पास ऐसी कोई चतुराई हो तब ही उसे सत्य का ही साधन आदरणीय गुण समझकर अपना लेना चाहिये। उस गुण से उस शत्रु का विनाश कर सत्य की रक्षा करनी चाहिये।

विषादप्यमृत ग्राह्यम्।

विष से भी अमृत ग्रहण कर लेना चाहिये। जब विष अमृत का काम देने लगे, तब उसे विष न मानकर अमृत रूप में स्वीकार करना चाहिये। विष अपने प्रयोक्ता के कौशल से विष न रहकर अमरत्वदान करने वाला अमृत भी बन जाता है। शत्रुताचरण करने वाले लोग हमारे लिये विष के समान भयजनक होते है, इसमें कोई सन्देह नही। शत्रुताचरण को भी

अपने लिए हितकारी बना लेने का एक विवेक ...

कोण है।

अवस्थया पुरुषः सम्मान्यते ।

"मनुष्य अनुकूल परिस्थिति में ही सम्मान पाता है ... पाने की एक अवस्था है। राजा अपनी ... नित होने योग्य परिस्थिति पैदा कर प्रजा से ... की आशा कर सकता है। जब तक ... कूल नहीं बना देती है, तब तक उस ...

स्थान एव नरा पूज्यन्ते ।

कदापि मर्यादा नातिक्रमेत् ।

कभी भी शिष्टाचार की सीमा का उल्लघन न करो। मनुष्य कभी भी उत्तेजना तथा कैसे भी सकट काल मे शिष्टो की मर्यादाओ नीति नियमों तथा सदाचार सीमाओ का उल्लघन न करे। शिष्ट व्यक्ति से शिष्टाचार न त्यागने का स्वभाव होता है। मन मे प्रतिक्षण सावधानी-वाणी गूजती रहती है कही मेरा शिष्टाचार मेरी किसी असावधानता से भग न हो जाय। यदि कोई क्षणिक उत्तेजना मे आकर शिष्टाचार सीमातिक्रमण करता है, तो वह उसकी अशिष्ट मनोवृत्ति की अभिव्यक्ति माना गया है। सच्चा शिष्टचारी अपने आपको कभी भी अशिष्ट की स्थिति मे अध पतित नही कर सकता है। उसका मन शिष्टाचार की सीमा म रहने के लिये प्रतिक्षण सजग रहता है।

जैसे मनुष्य मलिनवस्त्र हो जाने पर उन्हे पहनकर जहा कही बैठ जाता है इसी प्रकार चलितवतमानव अपने शेष वृत को बचाने म आत्म-समर्पण कर अपना स्वतन्त्र अस्तित्व समाप्त कर लेता है। मर्यादा का उल्लघन या नीति नियमो का भग करते समय मनुष्य को क्षुद्र भौतिक सुख या लाभ होता दीखता है, वह उसके सर्वनाश का श्रीगणेश होता है।

न स्त्रीरत्नसम रत्नम् ।

कुलभूषण सहधर्मिणी के समान ससार म कोई रत्न नही है। जाति कुल धर्मो की सरक्षिका, सच्चरित्ता, तपस्विनी, सहधर्मिणियो जैसा ससार मे कोई रत्न नही माना गया है। स्त्रीरत्न महापुरुषो को गर्भ म धारण करने वाली माता है। यह अपने पवित्र उदार, तेजस्वी तपस्वी विचारो से महापुरुषों का निर्माण करती है।

सुदुर्लभ रत्नम् ।

गुणी लोग ससार में सुदुर्लभ होते हैं। जिसका सौन्दर्य तथा तेजस्विता चित्ताकर्षक होती हैं वही रत्न है। समाज को अलकृत करने वाले स्त्री पुरुष रत्न ही तो है। किसी देश म समाज के सारभूत स्त्री पुरुषो का

उत्पन्न होते रहना उस देश का सौभाग्य है। राजव्यवस्थापकों का कर्त्तव्य है कि अपने देश में रत्नों को उत्पन्न करने योग्य पवित्र वातावरण बनाकर रक्खें। राजा का कर्त्तव्य है वह स्वयं अपने समाज के ऐसे दुर्लभ नर-नारियों का पहचानने वाला रत्न बनकर उन्हें अपने राष्ट्र के शिरोभूषण के रूप में पूज्य स्थान देकर समाज की श्री करें।

अयशोभयं भयेषु।

अपयश आचरण मनुष्य को मनुष्यता से हीन बना डालने वाली भीषणतम अवस्था है। जब राजसंस्था लोकनिन्दा का पात्र नहीं बनती है तब ही राष्ट्र में गुणों का प्रसार होता है। इसके विपरीत राजव्यवस्था में भ्रष्टाचारी लोकनिन्दित देशद्रोही अयोग्य लोगों को प्रवेशाधिकार मिल जाना राष्ट्र का अपमान है। यह स्थिति राष्ट्र की पतितावस्था की सूचक है। धार्मिक दृष्टि से उन्नत राष्ट्र ही नररत्नों को उत्पन्न करने वाली खान होता है।

नास्त्यलसस्य शास्त्रागमः।

पुरुषार्थहीन अजितेन्द्रिय व्यक्ति का शास्त्र पर अधिकार नहीं होता है। उसमें इतना धैर्य और परिश्रम ही नहीं होता है। अतएव वह कभी शास्त्रों का ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता है।

न स्त्रैणस्य स्वर्गाप्तिर्धर्मकृत्यं च।

रमणीरत स्त्रैण न तो धर्मकृत्य कर सकता है न और सुखी रह सकता है। इन्द्रियाधीन, भोगैकसर्वस्व, कामकिंकर, विषयलम्पट मर्यादाहीन कामी पुरुष, न तो अपना मानवोचित कर्त्तव्य पाल सकता है और न शारीरिक मानसिक किसी भी प्रकार का सुख पा सकता है। तपस्वी, संयमी, उद्यमी, इन्द्रियनिग्रही जीवन बिताने से मनुष्य में तेज, ओज, वर्चस, प्रभाव आदि वे गुण पैदा होते हैं, जो मनुष्य को प्रभावशाली बनाते हैं। भोगलोलुपता से मनुष्य का ओज क्षीण होकर उसका मन शुभ कर्म के योग्य नहीं रहता है।

स्त्रीयोऽपि स्त्रैणमवमन्यते ।

सहधार्मिणी भी स्त्रैण पुरुष को अवज्ञा की दृष्टि से देखती हैं। विषयलोलुप कामासक्त लोग अपनी विषयलोलुपता, कामासक्ति, निरयगामी नीच स्वभाव तथा अमनुष्योचित भोगप्रवृत्तियों से, अपनी धर्मपरायण स्त्रियों की दृष्टि में भी उपहास के पात्र बन जाते हैं।

विचारशील पत्नियाँ अपने सहधर्मी पुरुष को धीर, गंभीर, संयमी, स्वावलम्बी हृष्ट पुष्ट देखना चाहती हैं। लोलुप कामी लोग समाज में तो निन्दित होते ही हैं, अपने घर में भी अपनी प्रतिष्ठा खो देते हैं, घरों को अनीति तथा दुराचार का अड्डा बना देते हैं। लोलुप, कामी लोग मानसिक रूप में दुर्लभ होने के कारण अकर्मण्य, अविश्वासी, अनुत्साही अश्रद्धेय, अधीर, अयशस्वी, निर्बल हो जाते हैं। स्त्रैण लोग सच्चारित्र्य तथा सच्छ वित्त के अभाव के कारण सुधी समाज में अपमानित होते रहते हैं। पुरुष का यही गुण माना जाता है कि वह पुरुषार्थ से सम्पन्न रहे। अपने गुणों तथा परिश्रमों से अपने समाज को अलंकृत करे। जो लोग इन गुणों से भ्रष्ट होते हैं, समाज के कलंक हैं। उनकी सहधर्मिणियाँ भी उन्हें घृणा की दृष्टि से देखती हैं। सहधर्मिणी अपने पति को समाज में तो यशस्वी पुरुष सिंह के रूप में तथा घर में घर को गौरवान्वित करने वाले रूप में देखने की इच्छा लेकर ही प्रतिरूप वरण करती हैं। अपने घर को कलंक-सागर में डूबो देने के लिये पति का वरण नहीं करती हैं।

न पुष्पार्थी सिंचति शुष्कतरुम् ।

जिस प्रकार कर्मयोगी शुष्क तरु को न सींचकर जीवित तरु को सींचता है, उसी प्रकार समाज की शोभा बढ़ाने वाले पुत्ररत्न उत्पन्न करने वाली पत्नियों में स्वाभाविक आग्रह होता है कि उन्हें ऐसे पति मिलें जो समाज को सुशोभित करने वाले हों।

अद्रव्यप्रयत्नो बालुकाक्वथनादनन्य ।

धन के बिना किसी कार्य का करना बालू से तेल निकालने के समान है। अतएव बिना पर्याप्त धन के कोई कार्य न करना चाहिए।

न महाजनहास कर्त्तव्य ।

विज्ञ समाज सेवकों का कभी उपहास नहीं करना चाहिए। मनुष्य में विद्या, उदारता, अनुभव, धन तथा धर्म के कारण महानता आती है। इन गुणों से सम्पन्न लोगों का उपहास नहीं करना चाहिए। ऐसा करने से हीन भावना उत्पन्न होती है। श्रोतागण ऐसा उपहास करने वाले को नीच समझते हैं। विद्वान पूज्य होता है। उसकी पूजा करना प्रत्येक मानव का धर्म है।

आसुरी समाज का साहित्य, सभा और समितियां शिक्षा दीक्षा, वेश-भूषा आदि सब मनुष्यता के आदर्श को नीचा दिखाने तथा उसकी हंसी उड़ाने में ही अपनी बुद्धिमत्ता और सार्थकता समझते है।

कुछ पुस्तकों में यह श्लोक अधिक हैं।

न नर्म परीहास कर्त्तव्य ।

(मनुष्य को चाहिए कि) अश्लील परिहास न करे।

अश्लील गंवार परिहास, लघुता, असारता, अगंभीरता, अप्रतिष्ठा, अपमान तथा नीतिभ्रष्टता का परिचायक है। सभ्यसमाज को अपने राष्ट्र की पवित्रता की रक्षा करने के लिये अपनी व्यवस्था में मनुष्यता संरक्षक सत्यानुमोदित शासन करने वाले शिष्टाचार को ही महत्व देना चाहिए।

कार्यसम्पदं निमित्तानि सूचयन्ति ।

कारणसमूह ही कार्य की सफलता की सूचना देते हैं।

असत्य का विरोध करना ही सत्यरक्षारूपी कार्य है। असत्य विरोधरूपी सत्यरक्षा ही मनुष्य समाज में सर्वमान्य कर्त्तव्य है। इस कर्त्तव्य को स्वीकार करने की प्रेरणा देने वाली प्रेरक भावना ही इस सत्य रक्षारूपी महत्वपूर्ण कार्य का निमित्त है। भावना की जो शुद्धता होती है, वही तो कर्त्तव्य की सफलता की सूचना होती है। कर्तव्य में पश्चातापका अवसर न रहना ही कर्त्तव्य की सफलता माना गया है।

नक्षत्रादपि निमित्तानि विशेपयन्ति।

काय की शक्ति नक्षत्रो से अधिक महत्व रखती है। मनुष्य म यदि काय शक्ति और क्षमता है तो वह सब कर सकता है। नक्षत्र प्रतिकूल रहने पर भी उसका कुछ बिगाड नही सक्ते हैं। कतव्य के लिय अथवा मम करने के लिये कोई नक्षत्र अशुभ नही होता है। उसके लिये प्रत्यक नक्षत्र शुभ होता है।

इस श्लोक का एक रूप 'नक्षत्रादि निमित्तानि विशेपयन्ति' भी है। नक्षत्रादि भावी घटनाओ की सूचना देते है।

न त्वरितस्य नक्षत्रपरीक्षा।

शीघ्र काय करने वाले को नक्षत्रो को देखने की आवश्यकता नही पडती है। वह तो उत्साह तथा अपनी दृढता को ही शुभ मुहूर्त मानकर काम प्रारम्भ करे। कतव्य को तत्काल पालन करन वाले कत यशील के लिय नक्षत्र की अनुकूलता देखने का अवसर ही नहीं होता है। कत यशील के लिए नक्षत्र की अनुकूलता कोई महत्व नही रखती है। उसके लिए तो कतव्य की अनिवायता ही अनुकूलता है।

परिचये दोपा न छाद्यन्ते।

परिचय बढ जाने पर परस्पर एक दूसरे के दोप अनजान नही रह जाते हैं।

परिचित के दोप, गुण के सम्बन्ध म अभ्रान्त तथा सन्देह रहित हो जाना ही सच्चा परिचय है। किसी का विश्वास करन स पहल उससे सुपरिचित होना अत्यावश्यक है। पर्याप्त परिचय के बिना किसी का विश्वास कर लेन से धोखे की पूरी आशका रहती है। परिचय होन पर गुणदोप दानो प्रकाश म आ जाते हैं। पूरा परिचय हुए बिना लोकचरित्र का समझना असभव है। परिचय के बिना मनुष्य के विपय म पर्याप्त भ्रम रहता है। ज्ञानी अपन जस ज्ञानी का ही विश्वास कर सकता है। मनुष्य स्वय कसोटी बनकर ही दूसरे ज्ञानी के साथ सहयाग का सम्बन्ध जोडन की योग्यता उत्पन्न करता है।

स्वयमशुद्ध पराशंकते ।

पापी दूसरो को भी अपने समान पापी समझता है। वह अपनी कसौटी पर सज्जन पुरुषो को भी अपने समान मानता है। स्वय पतित व्यक्ति दूसरों को भी अपनी ही कसौटी पर कसकर सबको अपने ही समान समझकर अपना सहयोगी बनाना चाहता है। अशुद्ध के लिये ससार मे भले लाग नाम की कोई वस्तु नहीं होती है।

स्वभावो दुरतिक्रम ।

स्वभाव बदलना बडा कष्ट साध्य होता है।

मनुष्य का मन ज्ञानी या अज्ञानी दोनो मे से किसी एक स्थिति को अपना कर स्वभाव के प्रभाव मे रहकर ज्ञानानुकूल, अज्ञानोचित आचरणो मे आनन्द मानता है। एक दिन किया हुआ कम अगले दिन स्वभाव बन जाता है। स्वभावानुयायी काम करना किसी एक दिन मे सीमित न रह कर आदत का रूप ग्रहण कर लेता है। यह असभव बात है कि एक दिन शुभ कम में आनन्द लेने वाला मनुष्य अगले दिन अशुभ कम करने वाला अज्ञानी बन जाय। यह भी असभव है कि पहले दिन अशुभ कम करने वाला अशुभ कम में सुख मानता हुआ अज्ञानी अगले दिन शुभ कम करने वाला ज्ञानी बन जाय। जब तक अज्ञानी को अज्ञान मे मिठास आता रहता है, तब तक शुभ कम उसके लिये कष्टसाध्य या कष्टप्रद ही बना रहता है। शुद्ध भावना की मधुरता ही शुभ कर्म कराती है। शुद्ध भावना ही ज्ञान है। जब मनुष्य ज्ञानी बन चुकता है, तब ही उसका मन शुभ कम का मिष्ठास्वादन करने मे समथ होता है। ज्ञान की आखें बन्द कर रहने वाले अज्ञानी का कोई भी आचरण उन्मीलित चक्षु ज्ञानी के आचरणों के समान नही हो सकता है। इस दृष्टि से ज्ञानी समाज का कतव्य है कि वह राष्ट्र सेवार्थी के ज्ञान का पूण परिचय पाये बिना, उसे समाज कल्याण से सम्बन्ध रखने वाली राष्ट्र सेवा के क्षेत्र मे सम्मिलित या नियुक्त न करे।

पहले तो मनुष्य अपनी स्वतन्त्रता का दुरुपयोग कर अज्ञानी स्वभाव बना लेता है। फिर उसी के आधीन होकर बैठ जाता है। फिर अपना ही बनाया हुआ स्वभाव उसे अत्याज्य दीखने लगता है। यह मनुष्य की

अज्ञानमयी स्थिति है ।

अपराधानुरूपो दण्ड ।

अपराध के अनुरूप दंड होना चाहिए ।

गुरु अपराध में लघुदण्ड, लघु अपराध में गुरुदण्ड निरपराध को दण्ड तथा अपराधी को दण्ड न होने से समाज में क्षोभ तथा अनीति फैलती है। दण्डव्यवस्था न होने से लोक में बड़ी मछली का छोटी को खा लेना शक्तिमानों का निर्बलों को उत्पीडित करना चल पड़ता है तथा राष्ट्र अराजक हो जाता है ।

अदण्डनीयों को दण्ड देना तथा दण्डनीयों को दण्ड न देना, तब राजा अपयश पाता है तथा अदण्डित होने से उद्दण्ड बने हुए अपराधियों की विपत्ति में फंस जाता है। दण्ड अपराधी को अनिवार्य है। अपराधी अपराध कर अपने आप दण्ड का आह्वान करता है। पापी के दण्डित होने के मूल में दण्डदाता का कर्त्तापन न होकर अपराधी का ही कर्त्तापन रहता है। पापी ही स्वयं दण्डदाता को दण्ड देने के लिये विवश करता है।

जैसे अनुचित कठोरदण्ड प्रजा में अशुभ प्रतिक्रिया उत्पन्न कर उत्तेजना फैलाने वाला होता है उसी प्रकार मृत्युदण्ड भी पापोत्तेजक होने से हानिकारक होता है।

कयानुरूप प्रतिवचनम ।

मनुष्य को प्रश्न के अनुरूप जवाब देना चाहिए ।

अविश्वासपात्र लोगों के प्रश्नों का उत्तर देते समय ध्यान रखना चाहिए कि प्रश्नों से अधिक उत्तर देने से मन के गुप्त रहस्य जिन्हें अनधिकारी को नहीं बताना चाहिए मुख से निकल पड़ते हैं तथा हानि करते हैं। प्रश्न का उत्तर [illegible] भाषा में अपने तथा प्रश्नकर्ता के अधिकार का पूर्ण विचार कर देना चाहिए कि प्रश्नकर्ता को मुझसे इस बात का उत्तर लेने तथा मुझे उसे इसका यथार्थ उत्तर देना है या नहीं? यदि प्रश्नकर्ता का अधिकार न हो उसे उसके प्रश्न का यथार्थ उत्तर देना न हो, तो [illegible] अथ[illegible] में बात को किसी प्रकार टाल देना चाहिए या अयथार्थ उत्तर देकर

उसकी अनधिकार चेष्टा पर आघात करना चाहिये। सत्यवादी या यथार्थ-वादीपन के भ्रम मे आकर चाहे जिसे चाहे जो बात बता कर समाज का कल्याण करना नीतिहीनता कहा गया है।

विभवानुरूपमाभरणम्

मनुष्य अपने शरीर की साज सज्जा अपनी आर्थिक दशा के अनुसार रखे। मनुष्य अपनी देह को सजाने की प्रवृत्ति वाले मानव धर्म से तब ही अलकृत कर सकता है, जब वह इस सम्बन्धी मे शिष्टाचार का पालन करे। मानवधर्म या मनुष्यता ही समाज तथा व्यक्ति की सम्पत्ति या आर्थिक स्थिति या वैभव है। पार्थिव धन की अधिकता या कमी को मानवधर्म नाम वाली उस वैभवमयी स्थिति मे वैषम्य उत्पन्न करने वाली नही बनने देना चाहिये। यह विषमता समाज मे अशान्ति उत्पन्न करने वाली व्याधि है। अपनी देह को अलकृत करने के इस स्वाभाविक स्वभाव को कदापि किसी प्रकार भी सीमोल्लघन नही करने देना चाहिये।

कुलानुरूप वृत्तम्।

मनुष्य को आचरण अपने कुल के अनुरूप रखना चाहिए।

अपने आचरणो से अपने यशस्वी पुरुष को कुल की मर्यादा की रक्षा करनी चाहिये। ज्ञानी समाज ही मनुष्य का कुल है। ज्ञानी समाज ही राष्ट्र की राजशक्ति निर्माता है। वही प्रभु या स्वामी बनकर राजशक्ति को सर्व-हितकारी ज्ञान मार्ग पर ले जाता है। इस लिये प्रत्येक मनुष्य का ज्ञानी समाज का सदस्य बने रहना ही अपना स्वाभिमान है। इस बात को कभी न भूल कर अपने स्वभाव को सामाजिक सुख-समृद्धि मे सीमित रखना चाहिये। ज्ञानियो के कुल मे जन्म लेने वाले से यह आशा की जाती है कि उनका सदाचार उनकी नीतिपरायणता आदि ऊची श्रेणी की हो। उनका आचार निर्मल तथा हृदयग्राही हो। निकृष्ट आचरण बताते हैं कि वह मनुष्य किसी हीन कुल का पुरुष है।

इस श्लोक का एक रूप 'कुलानुरूद वित्तं' भी है।

मनुष्य के पास अपनी कुल परम्परा के अनुसार विद्या और वित्त का उपार्जन होता है ।

कार्यानुरूप प्रयत्न ।

मनुष्य को कर्म के अनुसार प्रयत्न करना चाहिए । कार्य की लघुता या गुरुता के अनुसार ही प्रयत्न होते है । कार्य की लघुता या गुरुता के अनुसार सामग्री एकत्रित कर कार्य का उपक्रम करना चाहिये । जैसे साधन जुटाये जायगे, जैसा प्रयत्न किया जायगा वैसा ही फल मिलगा । कर्त्तव्य छेडने से पहले उसका उचित समय, सहायक, अनुरूप देश, धनशक्ति, उत्साह शक्ति, होने वाले लाभ तथा अपनी कर्म शक्ति से पूरा परिचित होना चाहिये । कर्त्तव्य प्रारभ करने से पहले सोचना चाहिये यह काम स्वय करने का है या दूसरो से कराने का है ? अपने व्यक्तिगत स्वार्थ के लिये है । समाज की उचित सेवा के लिये है । अभी करने का है ? भविष्य मे हित कारी है ? क्या अनिष्ट सभावनाओ से भरपूर है ?

पात्रानुरूप दानम ।

दान तथा उसकी मात्रा, दान पात्र की उत्तमता, मध्यमता तथा अधमता, उसकी विद्या, गुण, अवस्था तथा आवश्यकता रूपी योग्यता के अनुसार होना चाहिये । दीन, रोगी, निराश्रय, अनाथ, पगु अधे विवश, निधन, विद्यार्थी, देव द्विज, गुरु विद्वान् की जीवन यात्रा तथा समाजोत्थान के कामो मे विभवानुसार दान देकर अपने समाज को सुखी, सम्पन्न, सदगुणी बनाये रखना चाहिए ।

वयोऽनुरूप वेष ।

वेश अवस्था के अनुरूप ही होना चाहिये ।

परिणत वयस्को के ऊपर यह सामाजिक उत्तरदायित्व है कि वह पूरे ज्ञानी अनुभव से समृद्ध मितव्ययी तथा शिष्टाचारी हो । जो वेश धारण करें वह परिष्कृत रुचि को सुरक्षित रखने वाला तथा समाजहितकारी मानव धर्म के अनुरूप हो । उनका यह कर्त्तव्य है कि सामाजिक अकल्याणकारी रुचि-

विगहित वेश न पहने। समाज का विपथगामी परानुकरणप्रिय तथा दुर्बल हृदय न बनने दें।

स्वाम्यनुकूलो भृत्य ।

सत्य ही स्वामी तथा भृत्य दोनो का प्रभु है। भृत्य का सत्यानुकूल बनाना ही आदर्श, सत्यनिष्ठ, सफल स्वामी के योग्य बनना है।

भृत्य का सुयोग्य स्वामी की ही नीति अपनानी चाहिये। उसी के हित म अपना हित मानना चाहिये। भृत्य की नीति सत्यनिष्ठ स्वामी के अनुकूल न होने पर भृत्य का अपना भी अनिष्ट तथा स्वामी के काय की भी हानि होती है। भृत्य का स्वामी की आज्ञा मानना चाहिये। उसी के अनुकूल आचरण करना चाहिये। राष्ट्र सेवक स्वामी को राष्ट्र सेवा परायण भृत्यो से ही काम लेना चाहिये। राष्ट्र सेवापरायण ही राजकीय भृत्यो की योग्यता है। योग्यता की इस कसौटी पर कसकर ही नवीन भृत्यो की सेवा स्वीकार करना चाहिये।

भर्तृवशवर्तिनी भार्या।

पत्नी पति के अनुकूल रहने म ही गृहस्थ जीवन का कल्याण है। गृहस्थ जीवन रूपी रथ के पहिए दो चक्रो पर चलते हैं।

दोनो की पारस्परिक अनुकूलता ही दोनो की स्वतन्त्रता है तथा प्रतिकूलता दोनो की पराधीनता है। इन दोनों मे पारस्परिक एकता तब ही सभव है, जब कि दोनो के जीवन का लक्ष्य एक हो। पारस्परिक प्रतिकूलता का एकमात्र कारण आदश की भिन्नता तथा विचार का विरोध होने पर कलह उत्पन्न होता है।

गुरुवशानुवर्ती शिष्य ।

शिष्य गुरु की सदिच्छता का अनुवतन करने वाला हो। गुरु का समाज सेवी होना अत्यावश्यक है। गुरु का समाजद्रोही होना कदापि अभीष्ट नही है। यह कोई शुभ लक्षण नहीं है। समाज सेवा ही विद्वान् गुरुओ के गुरुपद

मनुष्य के पास अपनी कुल परम्परा के अनुसार विद्या और वित्त का उपार्जन होता है।

कार्यानुरूप प्रयत्न।

मनुष्य का कर्म के अनुसार प्रयत्न करना चाहिए। कार्य की गुरुता के अनुसार ही प्रयत्न होते हैं। कार्य की लघुता या गुरुता सामग्री एकत्रित कर कार्य का उपक्रम करना चाहिये। जैसे जायगी, जैसा प्रयत्न किया जायगा वैसा ही फल मिलेगा। से पहले उसका उचित समय, सहायक, अनुरूप देश, शक्ति, होने वाले लाभ तथा अपनी श्रम शक्ति से चाहिये। कर्त्तव्य प्रारंभ करने से पहले सोचना चाहिये का है या दूसरो से कराने का है? अपने व्यक्तिगत समाज की उचित सेवा के लिये है। अभी करने का कारी है? क्या अनिष्ट संभावनाओ से भरपूर है?

पात्रानुरूप दानम।

दान तथा उसकी मात्रा दान पात्र की अधमता, उसकी विद्या गुण, अवस्था तथा अनुसार होना चाहिये। दीन रोगी निराश्रित निर्धन, विद्यार्थी, देव, द्विज, गुरु विद्वान के कामो मे विभवानुसार दान देकर सदगुणी बनाये रखना चाहिए।

वयोऽनुरूप वेष।

वेश अवस्था के अनुरूप ही होना चाहिये।

परिणत वयस्कों के ऊपर यह सामाजिक उत्तरदायित्व ज्ञानी अनुभव से समृद्ध मितव्ययी तथा शिष्टाचारी हो। जो वे सुसंस्कृत रुचि को सुरक्षित रखने वाला तथा समाजहितकारी के अनुरूप हो। उनका यह कर्त्तव्य है कि सामाजिक अकल्याणकारी

विरोहित ढंग न पहनें। समाज को विपथगामी परानुकरणप्रिय तथा दुर्बल हृदय न बनने दें।

स्वाम्यनुकूलो भृत्य ।

सत्य ही स्वामी तथा भृत्य दोनों का प्रभु है। भृत्य का सत्यानुकूल बनाना ही आदर्श सत्यनिष्ठ, सफल स्वामी के योग्य बनना है।

भृत्य को सुयोग्य स्वामी की ही नीति अपनानी चाहिये। उसी के में अपना हित मानना चाहिये। भृत्य की नीति सत्यनिष्ठ स्वामी के न होने पर भृत्य का अपना भी अनिष्ट तथा स्वामी के साथ की भी हानी है। भृत्य को स्वामी की आज्ञा मानना चाहिये। उसी के आचरण करना चाहिये। राष्ट्र सेवक स्वामी को राष्ट्र सेवा परायण से ही काम लेना चाहिये। राष्ट्र सेवापरायण ही राजकीय भृत्य योग्यता है। योग्यता की इस कसौटी पर कसकर ही नवीन भृत्यों को स्वीकार करना चाहिये।

भर्तृ वशवर्तिनी भार्या ।

पत्नी पति के अनुकूल रहने में ही गृहस्थ जीवन का गृहस्थ जीवन रूपी रथ के पहिए दो पक्षों पर चलते हैं।

दोनों की पारस्परिक अनुकूलता ही दोनों की स्वतन्त्रता है त कलह दोनों की पराधीनता है। इन ... सम्भव है जबकि दोनों के जीवन का ल... का एकमात्र कारण आ... कलह उत्पन्न होता है।

मनुष्य के पास अपनी कुल परम्परा के अनुसार वित्त और वित्त का उपार्जन होता है।

कार्यानुरूप प्रयत्न ।

मनुष्य को कर्म के अनुसार प्रयत्न करना चाहिए। कार्य की लघुता या गुरुता के अनुसार ही प्रयत्न होते है। कार्य की लघुता या गुरुता के अनुसार सामग्री एकत्रित कर कार्य का उपक्रम करना चाहिये। जैसे साधन जुटाये जायगे, जैसा प्रयत्न किया जायगा वैसा ही फल मिलेगा। कर्त्तव्य छेडने से पहले उसका उचित समय, सहायक, अनुरूप ढंग, धनशक्ति, उत्साह शक्ति, होने वाले लाभ तथा अपनी कर्म शक्ति से पूरा परिचित होना चाहिये। कर्त्तव्य प्रारंभ करने से पहले सोचना चाहिये यह काम स्वयं करने का है या दूसरो से कराने का है? अपने व्यक्तिगत स्वार्थ के लिये है। समाज की उचित सेवा के लिये है। अभी करने का है? भविष्य मे हित कारी है? क्या अनिष्ट संभावनाओ से भरपूर है?

पात्रानुरूप दानम ।

दान तथा उसकी मात्रा दान पात्र की उत्तमता, मध्यमता तथा अधमता, उसकी विद्या, गुण, अवस्था तथा आवश्यकता रूपी योग्यता के अनुसार होना [illegible] निराश्रय अनाथ, पंगु अंधे विवश निर्धन विद्यार्थ[illegible] जीवन यात्रा तथा [illegible] के कामो में वि[illegible] समाज को सुखी, सद्गुणी बनाये रखना [illegible]

वयोनुरूप वेष ।

वेष अवस्था के अनुरूप ही [illegible] परिणत वयस्कों के ऊपर यह [illegible] ज्ञानी अनुभव से समृद्ध मितव्ययी तथा [illegible] सहपरिष्कृत रुचि को सुरक्षित रखने वाला [illegible] के अनुरूप हो। उनका यह कर्त्तव्य है कि [illegible]

जाता है, इसी प्रकार अपने से बड़ों के द्वारा ताड़ित, अपमानित होने पर मनुष्य को उनके ही पास जाना चाहिए।

स्नेहवत स्वल्पो हि रोप ।

स्नेही गुरु लोगों का रोष अनिष्ट भाव से रहित होता है।

स्नेहवानों का रोष अनिष्टकारी न होकर सुधार की भावना या हित बुद्धि से प्रेरित रहता है। इसी भावना से उनके कुपित हो जाने पर भी उन्हीं का अनुसरण करने के लिये कहा गया है।

इस श्लोक का एक रूप 'स्नेहवता स्वल्पोऽपि रोष भी है।

आत्मच्छिद्र न पश्यति परच्छिद्रमेव पश्यति बालिश ।

मूर्ख अपना अपराध न देखकर दूसरों का ही अपराध देखा करता है। मूर्ख अपना दोष या अपराध न देख दूसरों का अहिताचरण करने की अपनी दुष्प्रवृत्ति से प्रेरित होकर दूसरों के ही अपराध ढूंढता फिरा करता है। वह आत्मसुधार न कर अपनी मूढ़ता से ही चिपटा रहने वाला मूर्ख बना रहता है। वह दूसरों का छिद्रान्वेषण कर उन्हें भी अपनी जैसी मूर्ख श्रेणी में घसीटने का प्रयत्न कर मिथ्या आत्मसन्तोष करता है। वह हिताहित विवेक शक्तिहीन होने के कारण अंधा होकर दूसरों के दोषों का आविष्कार करने में अपने अमूल्य मानवजीवन का दुरुपयोग करता है।

सोपाचार कैतव ।

धूर्त दूसरों के कपट सेवक बना करते है।

धूर्त मीठी बातों, रमणीय उपहारों, पारितोषक उपकरणों आदि से अपना उल्लू सीधा करना चाहा करते हैं। सेवा तथा परितोष के उपकरण 'उपचार' कहलाते होते हैं। उपचार शब्द उत्कोच अर्थ में भी व्यवहृत होता है।

काम्यविशेषरुपचरणमुपचार ।

विशिष्ट काम्य पदार्थों की भेंटों से दूसरों को अपनी असत्य की दासता

को शोभित करता है। शिष्यो की योग्यता को अपने हृदय म सुप्रतिष्ठि
करन वाल गुरुओ के हाथो मे पूण आत्मसमपण कर जस गोवत्स अप
बालोचित आत्मसमपण अपनी गोमाता को पवासकर उस दूध पिलान
लिये विवश कर लेता है, जसे जलार्थी मनुष्य खनित्र से खादता—खोद
अन्त मे भूमि को जल देन के लिये विवश कर दता है, उसी प्रकार शि
लोग अपनी शुश्रूषा, अनुसारिता समपण तथा समाज सेवा के उवार्ज
गुरु को प्रभावित कर उसे विद्यामत पिलाने के लिये विवश करे, तभी
किसी विषय के पारगत विद्वान् बन सकते हैं।

पितृवशानुवर्ती पुत्र ।

पुत्र को पिता की इच्छानुकूल होकर रहना चाहिए।

पिता के समस्त अनुभव तथा उसकी सम्पत्ति चाहने वाले पुत्र
पिता की शुभ इच्छाओ का अनुवर्ती हाकर रहना चाहिय।

पुत्र को अपन पिता को शरीरधारी या साकार ईश्वर मानकर उस उसके साथ पूण आत्मसमपण का सम्बध जोडकर रहना चाहिय। पित
बनने की अभिलाषा रखन वालो का समाज की मनुष्यता का सरक्ष
समाज सेवक होना अनिवाय रूप से आवश्यक है।

अत्युपचार शकितव्य ।

अगर काई लाभनीय सामग्री प्रस्तुत करता है तो सदेह करना चाहि
कि वह ऐसा क्यो कर रहा है ? बिना स्वाथ विशेष स्वाथ के काई ऐस
नही करता।

स्वामिनी कुपयते स्वामिनमेवानुवर्तेत ।

स्वामी के नाराज होन पर स्वामी को प्रसन्न रखना चाहिए। किसी
अन्य स याचना करना, मध्यस्थता करना उचित नही है।

मातृताडितो वत्सो मातरमेवानुरोदिति ।

जिस प्रकार मा द्वारा दडित होने पर बालक फिर फिर मा के ही पास

जाता है, इसी प्रकार अपने से बड़ों के द्वारा ताडित, अपमानित होने पर मनुष्य को उनके ही पास जाना चाहिए।

स्नेहवत स्वल्पो हि रोष ।

स्नेही गुरु लोगों का रोष अनिष्ट भाव से रहित होता है।

स्नेहवानो का रोष अनिष्टकारी न होकर सुधार की भावना या हित बुद्धि से प्रेरित रहता है। इसी भावना से उनके कुपित हो जाने पर भी उन्हीं का अनुसरण करने के लिये कहा गया है।

इस श्लोक का एक रूप स्नेहवता स्वल्पोऽपि रोष भी है।

आत्मच्छिद्र न पश्यति परच्छिद्रमेव पश्यति बालिश ।

मूर्ख अपना अपराध न देखकर दूसरो का ही अपराध देखा करता है। मूर्ख अपना दोष या अपराध न देख दूसरो का अहिताचरण करने की अपनी दुर्वृत्ति से प्रेरित होकर दूसरो के ही अपराध ढूंढता फिरा करता है। वह आत्मसुधार न कर अपनी मूढता से ही चिपटा रहने वाला मूर्ख बना रहता है। वह दूसरो का छिद्रान्वेषण कर उन्हे भी अपनी जैसी मूर्ख श्रेणी में घसीटने का प्रयत्न कर मिथ्या आत्मसन्तोष करता है। वह हिताहित विचार शक्तिहीन होने के कारण अधा होकर दूसरो के दोषों का आविष्कार करने में अपने अमूल्य मानवजीवन का दुरुपयोग करता है।

सोपचार कैतव ।

धूर्त दूसरों के कपट सेवक बना करते है।

धूर्त मीठी बातो, रमणीय उपहारो, पारितोषक उपकरणो आदि से अपना उल्लू सीधा करना चाहा करते हैं। सेवा तथा परितोष के उपकरण 'उपचार' कहलाते होते हैं। उपचार शब्द उत्कोच अर्थ मे भी व्यवहृत हुआ है।

काम्यविशेषैरुपचरणमुपचार ।

विशिष्ट काम्य पदार्थों की भेटो से दूसरो को अपनी असत्य की दासता

को शोभित करता है। शिष्यो की योग्यता को अपन हृदय म सुप्रतिष्ठित करन वाले गुरुओ के हाथो मे पूण आत्मसमपण कर जस गोवत्स अपन बालोचित आत्मसमपण अपनी गोमाता को पचासकर उसे दूध पिलान के लिय विवश कर लता है, जैसे जलार्थी मनुष्य खनित्र से खादता—खोदता अन्त मे भूमि को जल देन के लिय विवश कर दता है उसी प्रकार शिष्य लोग अपनी शुश्रूषा, अनुसारिता, समपण तथा समाज सवा के उचादश से गुरु को प्रभावित कर उसे विद्यामत पिलान के लिये विवश करें, तभी वे किसी विषय के पारगत विद्वान् बन सकते हैं।

पितृवशानुवर्ती पुत्र ।

पुत्र को पिता की इच्छानुकूल होकर रहना चाहिए।

पिता के समस्त अनुभव तथा उसकी सम्पत्ति चाहने वाले पुत्र को पिता की शुभ इच्छाओ का अनुवर्ती होकर रहना चाहिय।

पुत्र को अपन पिता को शरीरधारी या साकार ईश्वर मानकर उसके उसके साथ पूण आत्मसमपण का सम्बन्ध जोडकर रहना चाहिय। पिता बनने की अभिलाषा रखन वालो का समाज की मनुष्यता का सरक्षक, समाज सेवक होना अनिवाय रूप से आवश्यक है।

अत्युपचार शकितव्य ।

अगर कोई लाभनीय सामग्री प्रस्तुत करता है, तो सदेह करना चाहिए कि वह ऐसा क्या कर रहा है ? बिना स्वाथ, विशेष स्वाथ के कोई ऐसा नही करता।

स्वामिनी कुपयते स्वामिनमेवानुवर्तेत ।

स्वामी के नाराज होन पर स्वामी को प्रसन्न रखना चाहिए। किसी अन्य स याचना करना, मध्यस्थता करना उचित नहीं है।

मातताडितो वत्सो मातरमेवानुरोदिति ।

जिस प्रकार मां द्वारा दडित होन पर बालक फिर फिर मां के ही पास

जाता है, इसी प्रकार अपने से बड़ो के द्वारा ताडित, अपमानित होने पर मनुष्य को उनके ही पास जाना चाहिए।

स्नेहवत स्वल्पो हि रोष ।

स्नेही गुरु लोगो का रोष अनिष्ट भाव से रहित होता है।

स्नेहवानो का रोष अनिष्टकारी न होकर सुधार की भावना या हित बुद्धि से प्रेरित रहता है। इसी भावना से उनके कुपित हो जाने पर भी उन्हीं का अनुसरण करने के लिये कहा गया है।

इस श्लोक का एक रूप स्नेहवता स्वल्पोऽपि रोष भी है।

आत्मच्छिद्र न पश्यति परच्छिद्रामेव पश्यति बालिश ।

मूर्ख अपना अपराध न देखकर दूसरो का ही अपराध देखा करता है। मूर्ख अपना दोष या अपराध न देख दूसरो का अहिताचरण करने की अपनी दुष्प्रवृत्ति से प्रेरित होकर दूसरो के ही अपराध ढूढता फिरा करता है। वह आत्मसुधार न कर अपनी मूढता से ही चिपटा रहने वाला मूर्ख बना रहता है। वह दूसरो का छिद्रान्वेषण कर उन्हे भी अपनी जैसी मूर्ख श्रेणी मे घसीटने का प्रयत्न कर मिथ्या आत्मसन्तोष करता है। वह हिताहित विवेक शक्तिहीन होने के कारण अंधा होकर दूसरो के दोषो का आविष्कार करने मे अपने अमूल्य मानवजीवन का दुरुपयोग करता है।

सोपाचार कैतव ।

धूर्त दूसरो के कपट सेवक बना करते है।

धूर्त मीठी बातो, रमणीय उपहारो, पारितोषक उपकरणो आदि से अपना उल्लू सीधा करना चाहा करते हैं। सेवा तथा परितोष के उपकरण 'उपचार' कहलाते होते है। उपचार शब्द उत्कोच अर्थ मे भी व्यवहृत होता है।

काम्यैर्विशेषैरुपचरणमुपचार ।

विशिष्ट काम्य पदार्थों की भेटो से दूसरो को अपनी असत्य की दासता

ही उन धूर्तों के त्याग को हटाया जा सकता है। दुष्कर इस ससार म कुछ नही है। जिसके लिये जा प्रस्तुत नही है, वही उसके लिये दुष्कर या कठिन है।

गौर्दुष्करा श्वसहस्रादेकाकिनी श्रेयसी।

गाय कितनी ही दुधारी क्यो न हो, हजारो कुत्तो से ज्यादा उपयोगी है। इसी प्रकार सखा परउपकारी व्यक्ति हजारो ठगो से उत्तम है।

श्व सहस्रादद्यकाकिनो श्रेयसी।

भविष्य में मिलने वाले हजार रुपये मे आज, अभी का एक रुपया उत्तम है।

श्वोमयूरादद्य कपोतो वर।

भविष्य मे बडे मोर से कही अच्छा अभी मिलन वाला छोटा कबूतर है। जो अभी हाथ म है, उस साधन को साधन मानना चाहिये। अनागत साधनो को अपनी श्रद्धा नही देनी चाहिये। अनिश्चित साधन का भरोसा कर हस्तगत साधन का उपयोग न करना कर्त्तव्यभ्रष्टता है। अनिश्चित अप्राप्त साधनो का भरोसा करना वृथा है। कल कुछ मिल सकेगा या नही अनिश्चित है। हाथ की वस्तु उपस्थित है। उपस्थित कम होने पर भी श्रेष्ठ है। अनुपस्थित बहुत का भी व्यावहारिक मूल्य नही है।

अतिसगा दोपमुत्पादयति।

किसी भी काय मे अनैतिकता का आ जाना उस काय के उद्देश्य को विनष्ट करने वाली कर्त्तव्यभ्रष्टता है। विषयो म अतिप्रसक्ति उनका अवैध सेवन अनिष्ट उत्पन्न करता है। इसस शारीरिक ऐद्रियक तथा भौतिक अनिष्ट होते हैं। इसस मनुष्य का तेजस्वी भाग नष्ट हो जाता है तथा वह निस्तेज हो, उपेक्षित पददलित होकर परनिर्भर जीवन काटने के लिये विवश हो जाता है। किसी के साथ अनुचित घनिष्टता बढ़ाना अनिष्ट उत्पन्न करने वाला काय होता है।

सर्वं जयत्यक्रोधः ।

क्रोधहीन रागहीन विनीत सुशील व्यक्ति विश्वविजयी बन जाता है। चित्त का सवाल ही क्रोध है। बुद्धि को स्थिर रखना विजेता के लिये अनिवार्य रूप से आवश्यक है। स्पष्ट शब्दों में क्रोध पर विजय पा लेना ही विश्वविजय है। बुद्धि की जो स्थिरता है वही विजय है।

अपकार पर क्रोध आने वाले को अपने आभ्यान्तरिक रिपु क्रोध को ही सच्चे अपकारक के रूप में पहचानना चाहिये। बाहरी अपकारक तो मनुष्य के सामने क्रोध के कारण उत्पन्न मानव को क्रोधहीन न कर संग्रामविजयी बनने का अवसर देते हैं। ऐसे महत्वपूर्ण अवसर पर क्रोधी उस का शत्रु सिद्ध होता है। क्रोध को व्यर्थ कर देना ही विजय बन जाता है। मनुष्य को चाहिये कि वह शत्रु पर विजय पाने से भी पहले अपने क्रोधी स्वभाव पर हाथ लगाये। विजय प्राप्त करे। कार्य का प्रसंग आते ही क्रोध में आपे से बाहर हो जाना कार्यविनाशक मानसिक स्थिति है। क्रोध से बढ़कर कोई अपकारी नहीं है। अपकारी को पराजित करने की कला क्रोधहीन होने में नहीं है, क्योंकि अक्रोध स्वयं विश्वविजयी स्थिति है इसलिये कोई भी अपकर्ता क्रोध विजयी मनुष्य से उसकी विश्वविजयी स्थिति नहीं छीन सकता है।

मतिमत्सु मूर्खमित्रगुरुवल्लभेषु विवादो न कर्तव्यः ।

बुद्धिमानों, मूर्खों, मित्रों गुरुओं तथा प्रभुओं के मुंह चढ़े लोगों से कलह न करना चाहिये। बुद्धिमान् से कलह करना मूर्खता है। मूर्ख से अपनी ओर से कलह छेड़ना मूर्खता है। मित्र से कलह करना अपना ही हित द्वेष करना है। गुरुओं से कलह करना ज्ञान से वंचित रहना है। अपने पालक या रक्षक प्रभु से कलह करना सर्वनाश करना है। बुद्धिमान के जीवन में मूर्ख को छोड़कर अन्य किसी से भी कलह करने का अवसर नहीं आ सकता है। मूर्खों की मूर्खता के कारण उनके साथ संग्राम करने के अवसर बुद्धिमानों के पास भी आ जाते हैं। उनसे जहां तक संभव हो बचना ही बुद्धिमत्ता है। फिर भी इस संग्राम से सदा बचे रहना संभव नहीं होता। सत्पुरुषों के जीवन में मूर्खों की ओर से शतशः विघ्नों का उपस्थित होना

स्वाभाविक है। यदि सत्पुरुष लोग सग्राम छेडने वाले मूर्खों की आक्रामक वत्ति को निवृत्ति करने मे सफलता पा लिया करते ता ससार मे मूर्खों का रहना असभव हो जाता। सत्पुरुषो से विवाद छेडना ही मूर्खों का स्वभाव होता है। बुद्धिमान मनुष्य मूर्ख से वाग्विवाद कर उसकी आक्रामक मनोवृत्ति को रोकने की दुराशा न करे। बुद्धिमान का कर्त्तव्य तो मूर्ख की समझ मे आ सकने वाले दाण्डिक उपायो के द्वारा उससे मूर्खोचित बर्ताव कर आत्मरक्षा करना है। इसी मे भलाई है।

नास्त्यपिशाचमैश्वर्यम् ।

ऐश्वर्य पैशाचिकता से रहित होता ही नही है। कोई भी मनुष्य पैशाचिकता धारण किए बिना भौतिक ऐश्वर्य का उपासक अतुल सम्पत्तिमान् नहीं बन सकता है। भौतिक ऐश्वर्य का जो दड या अहकार है, वह पैशाचिकता का ही तो दूसरा नाम है। जहा कहीं भौतिक ऐश्वर्य के दंभरूपी असुर को पाओ, वहीं समझ जाओ कि उसका धन पैशाचिक ढगों से सग्रहित हुआ है। उसी से सुरक्षित रक्खा जा रहा है और उसके पिशाचोचित दुरुपयोग से समाज की शान्ति को नष्ट किया जा रहा है। मनुष्य सत्य का त्यागे बिना धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष चारो मे से तीन को त्यागकर केवल एक धन का उपासक नहीं हो सकता है। सच्चे लोग धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष चारों को समान महत्व देकर चारों की साथ-साथ उपासना करते हैं।

इस श्लोक का एक रूप 'नास्त्य विशालमैश्वयम्' भी है।

नास्ति धनवता शुभकर्मसु श्रम ।

धन के लोभी अच्छे कार्यों में श्रम नहीं करते हैं।

उनकी दृष्टि में शुभकर्म कष्टकारक तथा धननाशक होता है। वह सत्कर्म करने का कष्ट नही उठाते हैं। उनका किसी सत्कर्म मे प्रेरित होना दुराशा है। धनोपासको के दातापन असमव है। योग्य अधिकारी को आया जानकर उसकी धरोहर उसे सौंपकर उऋण हो जाना तथा दान के बदले मे घमड न भोगना ही दान का यथार्थ-स्वरूप है। स्वार्थमूलक दान दान न होकर, एक प्रकार का सूद पर रुपया लगाना है। धनलोलुप लोग जब

दान का नाटक खेलते हैं, तब वह दान न होकर उनकी यशोलिप्सा या किसी प्रकार की फलाभिलाषा होती है। दान सौदा नहीं है। समाज का उचित अधिकार समाज को लौटाना ही सच्चे दान का रूप है। उसका उसे सौंप देना तथा भूलकर भी दातापन का अभिमान न करना ही सच्चा दान कहा गया है।

नास्ति गतिश्रमो यानवताम्।

यान वाहन पर निर्भर रहने वाले लोग गतिश्रम नहीं उठाते हैं।

जैसे यात्रा के लिये यानों पर निर्भर हो जाने वाले लोग पर होते और चलने में समर्थ होते हुए भी पंगु बने रहते हैं, इसी प्रकार धनिक सर्वस्व, धनोपासक, धनपिशाच लोग सुकर्म करके मानवोचित प्रसन्नता पाने के अधिकारी होते हुए भी अपनी मनुष्यता को छोड़ देते हैं। धन को ही अपने जीवन की सार वस्तु समझते हैं और धन से समाज सेवा कर उससे मिलने वाली आत्मप्रसाद रूपी सारवस्तु से वंचित हो जाते हैं।

इस श्लोक का एक रूप 'नास्ति यानवतां गतिश्रमः' भी है।

अलोहमयं निगडं कलत्रम्।

पति पत्नी के लिये स्वेच्छा से स्वीकार की गयी, लोहे की बेड़ी है।

जैसे अपराधी को बलपूर्वक लोहे की बेड़ी पहनाकर उसे अपराध करने से रोका जाता है उसी प्रकार वैवाहिक प्रथा भी एक प्रकार की स्वेच्छा स्वीकृत अपराधरोधक बेड़ी है। एकनिष्ठ दाम्पत्य की प्रथा विवाहित व्यक्ति को अपने ही अनुमोदन से सामाजिक शृंखला में बांधे रहती है। जो दम्पति इस प्रथा को स्वीकार कर वैवाहिक संबंध करते हैं वे अपनी ही इच्छा से सामाजिक शृंखला की आधीनता भी स्वीकार कर लेते हैं। यह बंधन धर्म का बंधन है।

यो यस्मिन् कर्मणि कुशलः स तस्मिन्नेव योक्तव्यः।

जो जिस काम में कुशल हो, उसे काम में लगाना चाहिये। जो मनुष्य अध्यक्षता, मन्त्रिता, विचार निरीक्षण न्याय, धर्म, कोष, वाणिज्य, दौत्य

आदि जिस काय मे कुशल हो, उसे उसी काम मे लगाना चाहिये। किसी को किसी काम या किसी पद पर नियुक्त करते समय कुशलता ही योग्यता के रूप मे स्वीकृत होनी चाहिये। यदि नये कर्मचारियो की नियुक्ति करने वाले लोग उत्कोचजीवी, चाटुकारिताप्रिय यथा देश द्रोही-हो तो वह राजसस्था म दुष्प्रवत्तिया स लाभ उठाना चाहने वाले उत्कोच-जीवी चाटुकर देश द्रोहियो क। ही भर देत है और अपन दोप से उस राजसस्था को राष्ट्रद्रोही सस्था बना देते है।

दुष्कलत्र मनस्विना शरीरकशनम ।

दुष्ट पत्नी विद्वानो की दृष्टि मे क्लेश तथा उद्वेग करने वाली होती है।

भार्या गृहस्थरूपी शरीर का आधा भाग है। जिसका आधा शरीर दुष्ट होता है, उसका दु खी रहना अनिवाय है। मनस्वी लोग गृहस्थ्य जीवन का लक्ष्य इसी को मानते हैं कि अपनी भार्या के साथ सम्बन्ध रखने वाले मानव-धम के लौहबन्धन को अपने ऊपर सत्य के शासन के रूप मे स्वीकारें और अपने आपको समाज सेवा में लगाये रहें। यह धम स्त्री पुरुष दोनो को ही मानना चाहिये। इस धमबन्धन को तोड फेंकने वाली दुष्क-लत्र, अपने धार्मिक पति के मानव धम पालन मे विघ्न बन जाती है। उसके सम्मुख दो कत्तव्य उपस्थित कर देती है कि या तो अपनी भार्या को योग्य सहधर्मिणी बनाकर उसे अपने जीवन का सुयोग्य साथी बनाकर रक्खे-या त्याग दे।

अप्रमत्तो दारान्निरीक्षेत ।

मनुष्य प्रमाद रहित होकर सहधर्मिणी का वरण करे।

अपनी भार्या को प्रमाद से बचाना और उसे आदर्श गृहस्थ्यधम में दीक्षित कर उसे समाज सेवा का व्रत देकर रखना प्रमाद रहित मनस्वी व्यक्ति का ही काम है। भार्या का अपनी सहधर्मिणी के निरीक्षण का अधिकार तब ही स्वीकार किया जा सकता है तथा भार्या का पति को भर्ता के रूप में स्वीकार करना हो तब ही कुछ अथ रख सकता है, जब दोनों

समाज सेवा अपना लक्ष्य रखते हों। जब दोनो अपने समाज के सामने अपना उच्चादर्श रखना पवित्र कर्त्तव्य मानते हो। जहां पर पती-पत्नी दोनों का प्रमाद रहित होना आवश्यक है, वही पर दोनो मे एक दूसरे का निरीक्षण करने की योग्यता का रहना भी आवश्यक है।

स्त्रीषु किञ्चिदपि न विश्वसेत्।

ऊपर से देखने मे यह आक्षेप स्त्री जाति पर प्रतीत होता है परन्तु आर्य चाणक्य का यह आक्षेप वास्तव म स्त्री जाति को ज्ञानालोक से वंचित कर उसे दलित स्थिति म रखने वाले पुरुष समाज पर ही है। इस सूत्र का यह अभिप्राय कदापि स्वीकार नही कर सकते कि मनस्वी व्यक्ति अपनी धर्मपरायणा सुयोग्या तपस्विनी विदुषी सहधर्मिणी का भी विश्वास न करे।

यहां पर 'स्त्री' का अर्थ घरेलू नौकरानी है। इस प्रकार यह अर्थ स्पष्ट है।

न समाधि स्त्रीषु लोकज्ञता च।

स्त्री जाति में स्थिरता तथा लोकचरित्र का ज्ञान नही होता है। समाज मे पुरुष के प्रबल होने से स्त्री जाति को कूपमण्डूक बनाये रखने का उत्तरदायित्व पुरुष समाज का है। यह आक्षेप भी वास्तव मे पुरुष समाज का ही कलंक है। व्यवहारकुशलता सामाजिक व्यवहार करते रहने से प्राप्त होती है। स्त्री जाति को सामाजिक व्यवहार करने का अवसर ही नहीं दिया जा रहा है। इस कारण व्यवहारकुशलता म जिस स्थिरबुद्धिता तथा जिस लोक चरित्र के परिचय की आवश्यकता होती है, स्त्री जाति को उसे प्राप्त करने का सुअवसर नहो मिलता है। यह सूत्र समाज का ध्यान इसी वास्तविकता की ओर खींचता है। यह आक्षेप वास्तव मे स्त्रीमात्र चरित्र पर नहीं, अविकसित स्त्री स्वभाव पर है। विकास का अवसर मिलने पर स्त्री जाति पुरुष से कभी न्यून नही रह सकती है। इस न्यूनता को दूर करना समाज का कर्तव्य है। समाज की इस न्यूनता ने समाज की अर्धांगी को पक्षाघात रोग का रोगी बना रखा है। राष्ट्र को इस रोग से मुक्त करने

का कर्तव्य सुझा देना ही इस सूत्र का अर्थ है। स्त्री जाति के अविकसित मस्तिष्क बने रहने से सन्तति का अप्रौढ़ अन अव्यावहारिक होना भी अनिवार्य है।

गुरूणां माता गरीयसी।

सब गुरुओ मे माता का सर्वोच्च स्थान है। जो समाज मातृ जाति को अज्ञान के अन्धकार मे रखता है, उससे वह स्वयं ही रोगग्रस्त हो जाता है। पुरुष जाति पर यह उत्तरदायित्व है कि वह मातृ जाति को उचित प्राप्य गौरवमय स्थान देकर स्वयं उन्नत हो।

आचार्य का पद उपाध्याय से दस गुना ऊंचा है। पिता का पद आचार्य से सौ गुना ऊंचा है। माता का पद तो गौरव की दृष्टि से पिता से सहस्र-गुणा ऊंचा है। स्त्रियो का कलत्ररूप आदरणीय न होकर मातृरूप ही आदरणीय है। पति-पत्नी का दाम्पत्य सम्बन्ध स्वार्थमूलक होता है जब कि माता पुत्र का सम्बन्ध अहेतुक होता है। उस सम्बन्धी की अहेतुकता ही उसकी श्रेष्ठता है। मनुष्य की माता उसके सामने स्नेह, करुणा, क्लेशसहन, कर्तव्यपालन तथा आत्म त्याग का जो अपूर्व आदर्श उपस्थित करती है, उससे सन्तान को मानवता के आदर्श का जीवित पाठ मिलता है। माता ही मनुष्य का विश्वविद्यालय है।

सर्वावस्थासु माता भर्तव्या।

प्रत्येक अवस्था मे माता का भरण-पोषण करना सन्तान का धर्म है।

सन्तान के लिये ऐसी कोई भी अवस्था स्वीकार नहीं की जा सकती जिसमे उसे मातृ सेवा त्यागने का अधिकार प्राप्त हो सके। यद्यपि पिता की सेवा भी सन्तान का कर्तव्य है तो भी इस मातृ सेवा को महत्व देने का कारण यह है कि कभी-कभी पिता सन्तान से सेवा पाने के अधिकार से वंचित होने वाले काम कर सकते हैं, परन्तु माता का ऐसा होना स्वभाव विरुद्ध माना जाता है। जो माता सन्तान को अपने प्राणो से भी प्रिय जान कर अपनी छाती का दूध पिलाती है, उसकी इस महती सेवा का प्रतिदान देना सन्तान का कर्तव्य है। उसका किसी भी अवस्था मे मातृ त्याग करना

नही है। मात सेवा त्यागन की कोई परिस्थिति नही होनी चाहिए। मनुष्य किसी भी प्रकार के प्रलोभन या दुष्टा भार्या की कुमन्त्रणा से प्रभावित न हो तथा मातृ सेवा ही इस ऋण को उतारने का एकमात्र उपाय है। पिता के हाथों मे भौतिक दबाव रहने के कारण पिता के प्रति अकृतज्ञ लोग उसकी सेवा तो कुछ सीमा तक करते हैं। माता के हाथों मे भौतिक दबाव न होन के कारण यदि सन्तान अकृतज्ञ हो तो माता उसके ऊपर अपनी सेवा के लिये कोई भी भौतिक दबाव नहीं डाल सकती है। जिस योग्य सन्तान म मातृ भक्ति होती है वह अहैतुकी कतव्य बुद्धि से ही होती है। इस कतव्य बुद्धि को स्वीकार करना ही सन्तान की मातृभक्ति है। जो सन्तान किसी प्रकार के भौतिक या पार्थिव दबाव के बिना केवल पवित्र कतव्य बुद्धि से प्रेरित होकर मातृभक्ति करता है, वह उत्तम पुरुष माना गया है।

वैदुष्यमलकारेणाच्छाद्यते।

मनुष्य की विद्या देह-सज्जा के कारण छिपी रह जाती है। देह को शोभित करने या बन ठनकर रहने की भावना अज्ञानी है। दैहिक शृगार के साथ ज्ञान का सम्बन्ध है। मनुष्य शृगार प्रिय हो तथा वह पण्डित भी हो यह परस्पर विरुद्ध बात है। जिसमे पाण्डित्य होता है, उसकी चित्तवत्ति ज्ञान ज्योतिष से सुशोभित रहती है। ज्ञान ही विद्वान् के हृदय को समुज्ज्वल रखने वाला स्वाभाविक आवरण है। यदि कोई विद्वान् नामधारी पुरुष या स्त्री उस समय सिद्धान्त की उपेक्षा कर अपनी देह को सजाने के लिये कृत्रिम आभरणो का उपयोग करता है, तो समझ जाना चाहिये उसकी विद्वत्ता ज्ञान से रहित है। अज्ञानान्धकार से ढका हुआ बोझ है। अपने दैहिक रूप को अलकारो से सुशोभित करने की भावना मानसिक कुरूपता का ही प्रमाण है।

स्त्रीणा भूषण लज्जा।

लज्जा स्त्रियो का भूषण है।

जैसे पौरुष पुरुषों की विशेषता है, उसी प्रकार लज्जा, मान-मर्यादा की

रक्षा स्त्रियों का विशेष भूषण है। निलज्ज स्त्री निराभरण है। अपने देहांगो का प्रदशन करने की भावना ही निलज्ज है। अपने भागिनी रूप तथा मातृ-रूप की रक्षा करना ही स्त्रियो का कतव्य है। निलज्ज् स्त्रिया समाज को पतित करने की भावना से अपलक्षित होती हैं। समाज का पवित्र रखना स्त्री पुरुप दोनो ही का सम्मिलित कतव्य है। इसके लिये स्त्री पुरुप दोनो समान रूप से उत्तरदायी हैं। समाज की पवित्रता ही समाज का भूषण है। समाज को अपनी निलज्जता से पतित करने वाली स्त्री समाज से तो शत्रुता करती तथा स्वय अपने लज्जारूपी स्वाभाविक भूषण को त्याग कर अधःपतित हो जाती है। चारित्रिक अधःपतन स्वाभाविक सौदय को नष्ट-भ्रष्ट कर डालने वाली भयावनी स्थिति है।

अधःपतन से आत्मरक्षा करने की भावना ही नारी का स्वाभाविक धम है। समाज मे इस नारी धम को महत्वपूण स्थान मिलने या देने से समाज का पतन अनिवाय रूप से अवरुद्ध हो जाता है। मुख को छोडकर शेप अगो की नग्नता असह्यता, दैहिक आकर्षण का यथाशक्ति आवरण तथा दुःसाहसिकता का त्याग स्त्री देहधारियो का विशेष स्वभाव होता है। उनकी इस लज्जा से ही कुटुम्बो में कुल धम तथा परम्परा प्राप्त सनातन जाति धम सुरक्षित रहते हैं। जब स्त्रियां निलज्ज होकर अपने रूप यौवन को जानबूझकर सबसाधारण के सामने दिखलाने का प्रयत्न करने लगती हैं, तब परम्परा प्राप्त शालीनता आदि कुल धम तथा जाति धम नष्ट होकर समाज मे विशृंखला पैदा होती है तथा देश अधार्मिक बन जाता है।

विप्राणां भूपण वेद ।

वेद ही ब्राह्मणों की शोभा हैं। यही ब्राह्मणो का आभूपण है।

द्विजोत्तम बनाने के इच्छुक सदा वेदाभ्यास मे रत रहें। वेदाभ्यास ही ब्राह्मण का सर्वोत्तम तप है। अनध्ययनशील ब्राह्मण, काठ के हाथी या चमनिर्मित कृत्रिम मृग जैसा है। ये तीनो नाम ही नाम के होते हैं। इनमे यथाथता कुछ नहीं होती है।

वेदज्ञान के बिना मनुष्य-मनुष्य नहीं बन सकता है। मानव बनने का जो रहस्य है, वही वेदज्ञान है।

सर्वेणा भूषण धर्मं ।

सत्यनिष्ठा या कर्तव्यपालन ही मनुष्यमात्र का भूषण है। सत्य या कर्तव्य से हीन मनुष्य मनुष्यताहीन श्रीहीन राक्षस है।

जिस मानवोचित कर्तव्यपालन से ऐहिक अभ्युत्थान तथा मानसिक कल्याण होता हो, वही धर्म है। मनुष्यों के भोजन, आहार निद्रादि पशुओं के ही समान हैं। मनुष्य में धर्म ही पशुओं से विशिष्ट वस्तु है। धर्म से हीन मनुष्य और पशु में कोई अन्तर नहीं है। मनुष्य समाज को सुव्यवस्थित रखने वाली नीति या कार्यप्रणाली ही धर्म है। मनुष्य लोकचरित्र का अनुसरण न करे। लोकचरित्र के कामादि दोषों से भरपूर होने से मनुष्य उसका अनुसरण न करें।

मनु ने अहिंसा, सत्य, अचौर्य, बाह्याभ्यन्तर बुद्धि तथा इन्द्रियनिग्रह को चातुर्वर्ण्य का सम्मिलित धर्म बताया है।

भूषणानां भूषणं सविनता विद्या।

विनय सहित विद्या सब आभूषणों में सर्वश्रेष्ठ है।

विनय तथा विद्या दोनों सब भूषणों में श्रेष्ठ आभूषण हैं।

सत्यनिष्ठा ही विनय है। सत्य के शासन में रहना ही विनय है। संपूर्ण विद्याओं के साथ सत्यनिष्ठा का सम्मिलित रहना ही सच्ची विद्वता है।

विद्या से विनय, विनय से पात्रता उससे धन, धन से धर्म तथा उससे सुख प्राप्त होता है। सन्मार्ग से प्राप्त विद्या मनुष्य को विनय सिखा देती है। विद्या से विनीत सुजन, कार्यकुशल लोग ही राजकाज में नियुक्त होने चाहिए नहीं तो राजसंस्था लूट का ठेका बन जायेगी।

अनुपद्रवं देशमावसेत् ।

उपद्रव शान्ति प्रिय मनुष्य के तो स्वभाव के विरुद्ध तथा अशान्तिप्रिय के स्वभाव के अनुकूल है। किसी देश में उपद्रवकारी लोग न रहें, यह कभी सम्भव नहीं है। प्रकृति में सदा ही दो प्रकार के मनुष्य होते हैं। ऐसी अवस्था में शान्तिप्रिय मनुष्यों के सम्मुख यह कर्तव्य अनिवार्य रूप से सदा ही विद्यमान रहता है कि वे अपने देश को उपद्रव करने वाले लोगों के

अधिकार में न रहने देकर अपने अधिकार मे रखे।

निरुपद्रव लोगो का यह स्वाभाविक कर्तव्य है कि वे उपद्रवी लोगो के ऊपर अपना शासनदण्ड स्थापित किये रहें। यदि उनकी निरुपद्रवता मे उपद्रव-दमन का सामर्थ्य नहीं है, तो ऐसी कायर निरुपद्रवता समाजघाती तत्व होन से अपना कोई मूल्य नहीं रखती है। सच्चे निरुपद्रवी वे ही लोग हैं, जो उपद्रवियो के सिर पर अपना शासन दण्ड स्थापित रखते हैं। इस दृष्टि से उपद्रव दमन न कर सकने वाले निरुपद्रवी लोग अपने को निरुपद्रव नाम से सम्मानित करने का अधिकार नही रखते हैं।

साधुजनबहुलो देश ।

बहुसख्यक सत्यनिष्ठ साधुओ का वासस्थान ही देश है। जिस सौभाग्य-शाली देश मे असाधु लोग साधुओ प्रभाव से शासित रहते हैं वही सच्चा देश है। साधु लोगो का सामूहिक देश प्रेम ही देश मे निवासियो को एक राष्ट्र का रूप दे देता है। यद्यपि मनुष्य समाज मे साधुओ की सख्या अधिक है, यद्यपि निरुपद्रव शान्तिप्रिय रहना मनुष्य का जन्मना स्वभाव है, यद्यपि आक्रामकोका आखेट बनने से बचने की भावना स्वभाव से विद्यमान है पर यह भावना जब कभी आलस्य या अनव-धानता का रूप ले लेती है तब ही समाज की शान्ति पर आक्रमण करने वाले कुछ इने गिने उपद्रवी लोग उस जडता का अनुचित लाभ उठाकर समाज की शान्ति पर आक्रमण कर बैठते हैं।

राज्ञो येतव्य सार्वकालम ।

राजरोष का पात्र नही बनना चाहिये। आदर्श राजा वही है, जो समग्र राष्ट्र के हित तथा अपने व्यक्तिगत हित को अभिन्न समझता है राष्ट्र की स्पष्ट या अस्पष्ट सम्मति से सिंहासनारूढ होता है। अज्ञान मे डूबा हुआ राष्ट्र का महत्वहीन भाग राष्ट्र नहीं राष्ट्र के प्रधान बुद्धिमान हैं, किन्तु सेवा परायण लोग ही राष्ट्र हैं। इन लोगो की सम्मति या इनका सहयोग ही राष्ट्र की सम्मति है।

राजा प्रजाहित का उत्तरदायी है। प्रजा के कल्याण के लिये कुपथ-

गामियो का पयावरोध कर समाज मे शान्ति रक्षा का उत्तरदायी है। राजशक्ति प्रजा की सदिच्छा से, प्रजाशक्ति से ही बनती है। राजा प्रजाहित का सामूहिक प्रतीक होने से दण्डनीति का प्रधान पुरुष है। राजद्रोह प्रजाद्रोह तथा प्रजाद्रोह राजद्रोह हो जाता है। राजद्रोह से बचने म ही प्रजा का हित है। प्रजाहितकारी कर्तव्य करना ही राजा के प्रति राजभक्ति है।

न राज्ञ परं दैवतम ।
राजा से श्रेष्ठ कोई देवता नही है।

प्रजारजक कर्तव्य परायण राजा से श्रेष्ठ पूजनीय देव कोई नही है। अन्य देव न दीखने वाले देव हैं। राजा प्रत्यक्ष दीखने वाला देवता है। ' राजा समस्त प्रजाहित का मूर्तिमान प्रतिनिधि तथा उत्तरदायी है। प्रजा पाप करे तो उसे दण्ड का भय दिखाकर पाप से रोककर प्रजा मे सदाचार की परम्परा प्रवाहित करना, अन्य सब देवो से अधिक राजा का उत्तरदायित्व है। राजा के इस उत्तरदायित्व मे सहायक बनने के लिये अपने उपार्जन मे से राज भाग देते रहकर उसे सुपुष्ट बनाये रखना प्रजाका काय है।

सुदूरमपि दहति राजवह्नि ।

राजा अपनी दूर दृष्टि से राजद्रोहियो को दूर दूर तक देखता रहता है। राजा के पास, छिपाकर अशान्ति उत्पन्न करने वाले देशद्रोहियों को उचित दण्ड देने वाली दूरगामिनी शक्ति रहती है। राष्ट्र का प्रत्येक सच्चा नागरिक राजा के राजदण्ड को धारण करने वाले प्रतिनिधि के रूप मे देश भर मे सवत्र, सब समय प्रहरी का रूप लेकर नियुक्त रहता है। पापियो का उन्मूलन करने म राजसस्था की सहायता करना नागरिकों का स्वहितकारी कत्तव्य है। राजा को इन राष्ट्र सेवक नागरिको के द्वारा राजनियम भग करने वालो का समाचार मिल जाता है। राष्ट्र सेवक सच्चे नागरिक लोग ही राजा के बुद्धिसम्पन्न सुदीर्घ बाहुबल हैं।

रिक्तहस्तो न राजानमभिगच्छेत ।

राजा के पास रीते हाथ नहीं जाना चाहिये। समग्र देश का हितसाधन

करने म रत राजा समस्त राज की सबसे मूल्यवान मानवीय, अभिनदनीय तथा प्रोत्साहनीय सम्पत्ति है। प्रजाहितकारी राजा के राजकाज मे समथन, प्रोत्साहन तथा सहयोग देकर कृताथ होना प्रजामात्र का स्वहितकारी कतव्य है। इस दृष्टि से अपनी भौतिक शक्ति को राष्ट्र के सदुपयोग के लिये सुयोग्य राजा को सौंप देना उस पर कोई कृपा नही, किन्तु अपने ही हित मे सहयोग देना है।

गुरु च देव च।

नानदाता गुरु, देवस्थान या धर्मोपदेष्टा शीलसम्पन्न महात्मा के पास श्रद्धाभक्तिसूचक उपहार लेकर ही जाना चाहिये। इन लोगो से ज्ञान का हार्दिक आदान-प्रदान होते रहने तथा इनका हार्दिक अनुमोदन पाते रहने के लिये इस प्रकार विनम्र बर्ताव स्वहितकारी कतव्य है। धन, बन्धुता आयु, आचरण तथा विद्या ये पाच मान्यता के कारण हैं। इनमे पिछले पिछलो का महत्व बडा है। गुरुजनो तथा देवताओ को उपहार देने मे इनका नहीं, किन्तु इनके गुणों का ही आदर किया जाता है। मनुष्य अपने मन को गुणग्राही बनकर ही गुणी का प्रेमपात्र बन सकता है। ऐसे गुण-ग्राही लोगो के लिये उपहारो के द्वारा गुणो की पूजा करना स्वाभाविक शिष्टाचार है। इस शिष्टाचार को न पालना गुणो की उपेक्षा करना तथा उद्धत स्वभाव का परिचय देना होता है। गुणग्राहिता ही गुणी समाज मे सम्मान पाने की योग्यता है। गुणी के दशनाभिलाषी लोग गुणी के व्यक्तित्व का ही उसके गुणो का प्रतीक मानकर उसकी पूजा करते हैं। गुणी समाज का यह पारस्परिक शिष्टाचार सवमान्य शिष्टाचार है।

कुटुम्बिनो भेतव्यम।

राजा से कौटुम्बिक सम्बन्ध रखने वालो से द्वेष्य नही लेना चाहिये। राजपरिवार के सदस्यो की अवज्ञा करना वास्तव मे राजा की ही अवज्ञा है। राजा के कुटुम्बियो को भी राजा के समान शिष्टाचार पाने का अधिकार होता है। उन्हे शिष्टाचार से वचित करना राजरोष का कारण बन सकता है। प्रजा का राजा के साथ जो सम्बन्ध है वही सम्बन्ध राजा के कुटुम्बियो के साथ भी वाछनीय है।

गन्तव्य च सदा राजकुलम ।

राजकुल मे सदा जाना चाहिये । प्रजा के हिताहित से सबन्ध रखने वाले राजकीय मन्तव्यो तथा निणयो के परिचयो से लाभान्वित होते रहने के लिये सदा राजकुल, राजपरिषद् में जाते रहना चाहिये । राजकुल अर्थात राज सभा मे नियमित रूप से उपस्थित होकर राजकाज मे सहयोग देना चाहिये । राज्य सस्था हमारी ही प्रतिनिधि सस्था है । उसका सुधार हमारा सुधार है । वह क्या कर रही है ? यह जानते रहना तथा अपनी राज्यसस्था को अकर्तव्य न करने देने के लिये उसके सपर्क मे रहना प्रजा का स्वहित कारी कर्तव्य है । राज्यसस्था के प्रति उदासीनता आज के भारत का भयकर आत्मद्रोह है ।

राजपुरुषे सम्बन्ध कुर्यात ।

राजकाज से सम्बद्ध मन्त्री आदि राज पुरुषों के साथ मैत्री या परिचय का सबध बनाये रखना व्यवहार सहायक स्वहितकारी कर्तव्य है ।

विज्ञजन सदा इसका पालन करते है ।

राजदासी न सेवितव्या ।

राजमहल मे काम करने वाली परिचारिकाओ से कभी सपर्क नहीं रखना चाहिए ।

न चक्षुषाऽपि राजन निरीक्षेत ।

राजा को कभी भर आंख नहीं देखना चाहिए । ऐसा करना अशिष्टता माना गया है ।

पुत्रे गुणवति कुटुम्बिन स्वर्ग ।

पुत्र के सदाचारी तथा गुणवान् होने पर पिता को अनुपम सुख होता है । पिता को अपनी सन्तान की पवित्रता से जितनी ठडक मिलती है उससे अधिक अन्य किसी बात से नहीं है । किसी के भाग्योदय होने पर

ही उसे गुणी पुत्र प्राप्त होते हैं। पुत्रों के पास विद्या धन तथा सुचरित्र होने पर पिता ही नहीं समस्त सबंधियों को दिव्य सुख और दिव्य हर्ष प्राप्त होता है।

जैसे एक भी सुगन्ध वाले पुष्पित सुवृक्ष से समस्त वन सुगन्ध स्नात हो जाता है, उसी प्रकार एक ही सुपुत्र से समस्त कुल गौरव पा जाता है।

पुत्रा विद्याना पार गमयितव्या ।

पुत्रों को विद्याओं का पारगत बनाना चाहिये। अपने देश के बालकों को मानवता की सरक्षक तथा जीवनोपयोगी दोनों ही प्रकार की विद्याओं का पारगत बनाना चाहिये। अपने देश के बालकों का लौकिक, अभ्युदय उनकी मानसिक शान्ति के नेतृत्व और प्राधान्य मे ही फूलना फलना चाहिये। धर्मशास्त्र, वार्ताशास्त्र, अध्यात्मशास्त्र, शिल्प, राजनीति, युद्ध-विद्या आदि समस्त विद्याओं का पारगत बनाना चाहिये। देश के जिन बालकों मे समस्त विद्याओं के ग्रहण, धारण तथा उपयोग का सामर्थ्य होता है वे देश की विभूति बन जाते हैं।

जनपदार्थ ग्राम त्यजेत ।

अपने ग्राम के देशद्रोही हो जाने पर उसे छोडकर देश का साथ दे। न्याय तथा शान्ति की सुरक्षा मे ही देश का कल्याण है। जिस ग्राम का मनुष्य समाज न्यायनिष्ठ तथा शान्ति प्रिय न हो, वह ग्रामसमाज त्याज्य हो जाता है। उसकी देशद्रोहिता का विरोध करना कर्तव्य हो जाता है।

राष्ट्र के सार्वजनिक हित को सुरक्षित रखने के लिये ग्राम के क्षुद्र स्वार्थ का बलिदान कर दे। ग्राम ये अपने सीमित अस्तित्व को राष्ट्र से पृथक् न समझ राष्ट्र के प्रति आत्मसमर्पण कर अपना क्षुद्रत्व मिटा डाले।

ग्रामार्थं कुटुम्बस्त्यज्यते।

जब किसी का कुटुम्ब ग्राम की शान्ति का विघ्न बन रहा हो, तब वह कुटुम्ब को त्यागकर ग्राम को अपनाये रहे या उसका साथ दे। मनुष्य ग्राम

के सार्वजनिक कल्याण की सुरक्षा के लिये पारिवारिक क्षुद्र स्वार्थ को त्याग दे। अपने पारिवारिक स्वार्थ को ग्राम के सार्वजनिक स्वार्थ से अलग समझे। ससार मे जितने विवाद, कलह और युद्ध खडे होते हैं सब अपने स्वार्थ का सार्वजनिक स्वार्थ से अलग न मान रखने से ही होते हैं। यदि समाज म सार्वजनिक कल्याण की रक्षा की प्रवृत्ति जाग उठे या जगा दी जाय, तो देश मे सतयुग या रामराज्य आ जाय।

अतिलाभ पुत्रलाभ।

पुत्र लाभ सर्वश्रेष्ठ लाभ है। गुणी पुत्र का पिता होना ही सन्तानवान् होना है। निर्गुण पुत्र का पिता होना पिता की अयोग्यता भी है। साथ ही पुत्रहीनता भी है। निर्गुण अयोग्य पुत्र तो परिवार का ही नहीं राष्ट्र का भी शत्रु है। राष्ट्र शत्रु, परिवार शत्रु पुत्र का पालन-पोषण करना राष्ट्र-द्रोह, समाजद्रोह, परिवारद्रोह तथा आत्मद्रोह है। सत्पुत्र पा जाना पिता का असाधारण लाभ या सौभाग्य है। सत्पुत्र या गुणी पुत्र पा जाना ही पुत्र लाभ है। जाति धर्मो तथा सस्कृतियो की रक्षा सत्पुत्रो से ही होती है। ऐसे उदार पुत्र पाना ससार का सर्वोच्च लाभ है। मनुष्य के सिर जो पितृ ऋपि नामक ऋण है, वह समाज को योग्य, गुणी, ज्ञानी, महात्मा पुत्र देने से ही उतरता है और पिता ऋण मुक्त हो जाता है। वश तथा वशानुगत सदाचारो की परम्परा का सरक्षण और उस परम्परा का सशोधन परिवर्धन तथा सस्करण सुपुत्रो से ही होता है।

दुर्गते पितरौ रक्षति स पुत्र।

पुत्र दुर्गति से माता पिता की रक्षा करते हैं। पुत्र का जन्म होते ही पिता-माता के सम्मुख सन्तान पालन धर्म का उत्तरदायित्व आ खडा होता है। यो भी कह सकते हैं कि पुत्र का जन्म होना ही धार्मिक पिता-माता के जीवन का पवित्र धर्म बन्धन मे बधन हो जाता है। पुत्र जन्म होते ही पिता माता के सम्मुख पुत्र के सामने मनुष्यता के आदर्श को मूर्तिमान् करके रखने का कर्तव्य उनके जीवन के लक्ष्य का रूप ले लेता है। पुत्र जन्म होते ही अभिभावक के उच्छृखल जीवन बिताने का मार्ग रोक देने वाला मान-

चीय आदश शक्तिमान् बनकर माता पिता को सत्यरक्षा नामक लौह शृंखला मे बाधकर खडा कर देता है। परिवार को आदश तपोवन का रूप देता है। आय विचारो के अनुसार अज्ञान रूपी नरक से त्राण पाने के अथ मे ही स तान को पुत्र कहा जाता है। सत्यस्वरूप ज्ञान ज्योति ही मनुष्य को अज्ञान रूपी नरक से बचाती है। अज्ञान रूपी नरक से माता पिता का त्राण करने वाली सत्यस्वरूप ज्ञान ज्योति स्वय ही स तानपालन धम का रूपलेकर माता-पिता की गोद को ज्योतिमय बना डालती है। जीवन के उच्चादश को अपने परिवार के बाल मुनिमण्डल म व्यावहारिक रूप देकर धन्य होना माता पिता बनने के अभिलाषियो के लिये बडे ही सौभाग्य की बात है। यही सौभाग्य माता पिता के पास स तान का रूप लेकर आता है।

कुल प्रख्यापयति पुत्र ।

सुसन्तान अपनी विद्या, दान, मान, यश तथा धम से अपने वश का कुल उज्जवल कर देता है। एक गुणी पुत्र ही पर्याप्त है। सौ निर्गुण पुत्रो से कल्याण नही हैं। एक च द्रमा ही उन अधकारो को मिटा डालता है, जो सहस्रों तारो से नही मिट पाते, उत्तम पुत्र वह है जो योग्य पिता की चिता मात्र को समझ जाय और दूर कर दे। मध्यम वह है, जो उसके कहे हुए को करे, अधम वह है, जो कुछ न करे। जो करे ही नही वह पुत्र नही होता है।

नाऽनपत्यस्य स्वर्गं ।

जिसका पुत्र सुपुत्र नही होता, उसे सुख प्राप्त नही होता है।

सुसन्ततिहीन पुरुष को शुद्ध वश परम्परा चलाने या सष्टि रक्षा मे सहयोग देने का हष प्राप्त नही होता है। अपने जैसे दो चार, दस पांच प्राणी उत्पन्न होने का कारण बन जाना यह साधारण पुरुष की मानसिक स्थिति है। उच्च श्रेणी के लोग अपने शरीर से, अपने जैसे पैदा करने का प्रयत्न न कर लोगों को विचारो मे अपने जैसे शुद्ध, उदार सदाचारी बनाने का प्रयत्न करते हैं और आज म उध्वरेता रहकर समाज को सदगुणी बनाने की तपस्या किया करते हैं।

या प्रसूते सा भार्या ।

सुसन्तान की जननी ही पति की सच्ची पत्नी है। सुसन्तानोत्पत्ति मे ही भार्यात्व की सफलता है।

भार्या में सुपुत्र जन्म से ही विशेषता तथा मान्यता आती है। यह इस सृष्टि व्यवस्था का ही अग है। सृष्टि व्यवस्था समस्त प्राणियो की परम्परा चलाने के लिये जैसे पशु पक्षियो को दाम्पत्य धम मे दीक्षित करती है, वैसे ही मानवो को भी करती है। शारीरिक दृष्टि से अपने जैसे प्राणी उत्पन्न करना पशुओ का स्वभाव तथा मानसिक दृष्टि से उदार मानवो को सृष्टि में आने का अवसर देना मानव का परम कतव्य है। समाज को योग्य सदस्य देना गहस्थाश्रम का उत्तरादायित्व है। अयोग्य पापी, दुराचारी मनुष्य उत्पन्न करना गृहस्थाश्रम का कलक है। ऐसे नराधम पैदा करने से तो पत्नी का बाझ रहना ही अच्छा है।

तीर्थसमवाये पुत्रवतीमनुगच्छेत ।

अनेक स्त्रियो के एक साथ ऋतुमती होने से पहले उसके पास जाये जो पहले ऋतुमती हुई हो। राज धम यही है।

सतीर्थागमनाद् ब्रह्मचर्यं नश्यति ।

रजस्वला स्त्री के साथ सभोग करने से ब्रह्मचय नष्ट होता है।

न परक्षेत्रे बीज विनिक्षिपेत ।

परायी स्त्री के गभ मे वीयपात् न करे। यह अनैतिक आचरण है। समाज इनकी अनुमति नहीं देता है।

पुत्रार्था हि स्त्रिय

स्त्री भोग के लिये सन्तान उत्पादन के लिये है ताकि मनुष्य की वश परम्परा और उसके आनुवांशिक गुण बने रहें। यह पुरुष का परम कर्तव्य

है कि वह पुत्र उत्पादन कर वंशानुगत क्रम बनाये रखे।

स्वदासीपरिग्रहो हि दासभाव ।

अपनी दासी को भोग्या बनाकर, नौकरानियों, सेविकाओं से शरीर सम्पर्क करना उनका दास हो जाता है। उनके द्वारा मनुष्य कभी भी अपमानित हो सकता है।

उपस्थितविनाश पथ्यवाक्य न शृणोति।

अवश्यभावी विनाश वाला हितैषियों के पथ्य वाक्य नही सुना करता। नष्ट होने को प्रस्तुत लोगो को दीपक बुझने की गंध नहीं आती, हितैषियो के उपदेश सुनाई नही देते और अरुन्धती नही दीखती है। बुरे दिन आने पर मनुष्य की बुद्धि विपरीतग्राहिणी हो जाती है। विपत्ति के दिनो बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है। बुद्धिमान् वही है, जो सर्वावस्था में ज्ञान वृद्ध, वयोवृद्ध हितैषियों के साथ सम्मिलित रहकर उन्हीं की सुबुद्धि से परिचालित हो उन्ही की अभिज्ञता और उन्ही के ज्ञानलोक से अपने कर्तव्य मार्ग पर चलता रहे। कर्तव्य भ्रष्ट न रहने की यही कुंजी है कि मनुष्य कर्तव्याकर्तव्य निर्णय के निर्णय पर बुद्धिमान् लोगों से परामर्श लेकर अभ्रान्त बना रहे।

नास्ति देहिना सुखदुःखाभाव ।

देहधारियों को भौतिक सुख-दुःख मिलना कभी बन्द नहीं हो सकता है। मनुष्य के लिये आवश्यक है कि वह ससारी सुख दुःख दोनों को ससार की अनिवार्य घटना मानकर इनसे विचलित न होकर अप्रभावित रहे और इनके विषय मे अपना दृष्टिकोण बदलकर अपनी बुद्धि को स्थिर रक्खे। वह सुख मे उल्लसित होना तथा दुःख से पराभूत या अवसन्न होना त्याग दे। वह समझे कि यह तो होना ही है। बुद्धिमान् मनुष्य ऐसा दृष्टिकोण बनाकर ससार मे विजेता की तरह रहता है।

मातरमिव वत्सा सुखदुःखानि कर्तारमेवानुगच्छन्ति।

सुखदुःख माता के पीछे-पीछे घूमने वाले वत्सों के समान कर्मरत

व्यक्ति का अनुसरण किया करते हैं। जैसे माता वत्स की जननी है, इसी प्रकार मनुष्यों के कर्म भी सुख दुःख कहलाने वाले भौतिक सुफलों के उत्पादक होते हैं। जहां कहीं कर्म होता है, वहीं भौतिक सुफल कुफलों के बंधन में फसाने वाली अज्ञानता तथा फसने की सम्भावना भी बनी रहती है। यही कर्म बंधन है। इस कर्म बंधन से अतीत नित्य सुख बने रहना ही सच्चा ज्ञान कहा गया है।

तिलमात्रमप्युपकारं शैलवन्मन्यते साधुः।

साधुवृत्ति के लोग छोटे से उपकार को भी महोपकार मानकर चिर-कृतज्ञ बने रहते हैं। साधु लोग तिलमात्र उपकारक के हाथ में आत्मविक्रय कर देते हैं। इसके विपरीत असाधु लोग हिमालय के बराबर उपकार को सरसों के बराबर भी मानने को उद्यत नहीं होते हैं।

उपकारोऽनार्येष्वकर्त्तव्यः।

उपकार अकृतज्ञ अपात्र के साथ करने की वस्तु नहीं है। परसुख लोभी ही अनार्य कहते हैं। अनार्य लोग उपकर्ता को भी डंक मारने वाले बिच्छू के समान सबके द्वेषी होते हैं। इनसे परिचय बढ़ाना इनके दुष्ट स्वभावों का आखेट बनना है तथा उन्हें बढ़ावा देना होता है। किससे कैसा व्यवहार करना ? यह मनुष्य के सीखने की एक महत्त्वपूर्ण, नित्य-व्यवहार कला है। कौन मनुष्य किस योग्यता और अधिकार का है ? यह बिना जाने किया व्यवहार अपने ही लिये घातक हो जाता है। मनुष्य को पुरुष की परीक्षा में निपुण होना चाहिये नहीं तो संसार में वह ठगा जाएगा।

इस श्लोक का एक रूप 'उपकारो नास्तिका नादरेषु कर्त्तव्यः' भी है।

प्रत्युपकारभयादनार्यः शत्रुर्भवति।

कलुषित हृदय का अकृतज्ञ व्यक्ति किसी से उपकृत होने पर उसका प्रति उपकार न कर दुरभिसंधि से उसका शत्रु बन जाता है।

अकृतज्ञ पुरुष दूसरे सज्जन पुरुष से उपकृत होने पर प्रत्युपकार करना पड़ने के डर से वैसा प्रसंग आने से पहले ही उनका शत्रु बनकर कृतज्ञता

वे मानवोचित बन्धन को तोड फेंकने में ही अपनी चतुराई समझता है। उपकर्ता की विपत्ति को दूर करना या उसके किसी काम मे सहायक बनना प्रत्युपकार कहलाता है। अनाय की स्थिति दूध पिलाने वालो को भी काटने वाले सापो-सी होता है। वह अपने स्वभाव से किसी का भी प्रत्युपकार नही करता है।

ससार का यह अनुभव है कि सत्पुरुषों के शत्रु साधारणतया वे ही होते हैं, जो कभी न कभी उनकी उदारता से उपकृत हो चुके होते हैं। कुछ लोगो का यह कटु अनुभव है कि उपकार करना शत्रु उत्पन्न करना है। इस अनुभव के आधार पर यह धारणा बन चुकी है कि उपकारक लोगों को उपकार के बदले में शत्रुता ही मिला करती है। फिर भी सत्पुरुष शत्रु-भय से अपना स्वभाव नही त्यागते हैं। वे अपने स्वाभावानुसार सबसे सज्जनता का बर्ताव कर मनुष्य को अमुक मित्र है और अमुक शत्रु इस रूप में पहचानकर मित्र को अपनाते और शत्रु को त्याग देते हैं।

स्वल्पमप्युपकारकृते प्रत्युपकारं कर्तुमार्यो न स्वपिति।

सत्पुरुष जब तक उपकारी के उपकार का बदला नही चुका देता है, तब तक क्षण मात्र भी चैन से नहीं बैठता है। वह अपना कर्त्तव्य करके रहता है।

न कदाऽपि देवताऽवमन्तव्या।

देवबुद्धि से पूजे जाने वाले स्थान, प्रतिमा चित्रादि वस्तु या देवचरित वाले श्रेष्ठ व्यक्तियो का प्रमाद या आलस्य से कभी भी अपमान नहीं करना चाहिए। प्रमाद या आलस्य देव द्विज, गुरु, प्राज्ञ आदि उच्च श्रेणी की विभूतियों का अपमान नही करना चाहिये। इससे उनके श्रद्धालुओं का शत्रु बनना पडता है अपनी विचारशीलता, शिष्टाचार तथा मनुष्यता का अपमान होता है।

इस श्लोक का एक रूप यह भी है।

—न कदाचिद्देवकृतान्यवमन्तव्यानि। देव, गुरु या राजा के कार्यों की अवहेलना न करनी चाहिये।

न चक्षुष समं ज्योतिरस्ति ।

आखें ससार की सबसे महत्वपूर्ण ज्योति हैं ।

चक्षु के बिना यह जगत ज्योतिर्हीन हो जाता है। चक्षु के समान कोई ज्योति नहीं है। वस्तु दर्शन में चक्षु जैसी महत्वयुक्त दूसरी कोई ज्योति नही है। चक्षु ही समस्त ज्योतियो का उपयोग करने वाली ज्योति है। उनके बिना समस्त ज्योति अनुपयोगी हो जाती हैं। चक्षु के बिना अनन्तकोटि सूर्य भी मनुष्य को एक तिनका तक नही दिखा सकते। उसके बिना उसका मूल्य खद्योत के बराबर भी नहीं रहता है। मनुष्य चक्षुओ का विशेष ध्यान रक्खें। चक्षु का विषयों के साथ अतियोग, अयोग या मिथ्यायोग होने से उसमे रोग उत्पन्न होकर उसके नष्ट होने का प्रसग हो बन जाता है। इसलिये मनुष्य चक्षु के सदाचार के साथ-साथ समस्त सदाचारों का पालन करें तो उससे आरोग्य तथा इन्द्रिय विजय दोनों ही प्राप्त होते हैं।

चक्षुर्हि शरीरिणां नेता ।

ज्ञाननेत्र ही मनुष्य को विषय से निवृत करने वाला एकमात्र ज्योतिमय पथदर्शक है। चक्षु ही देहधारियों का नेता है। इसी से उसका नाम नेत्र है। सूक्ष्म स्नायुओं से प्रवाहित, अक्षिगोलक के भीतर कृष्णतारे के अग्रभाग मे रूपग्रहण करने वाले तेज वाली इन्द्रिय चक्षु है।

अपचक्षुषः किं शरीरेण ।

नेत्रहीन शरीर से ससार यात्रा क्लेशप्रद हो जाती है। जैसे अंधे की देह निरुपयोगी हो जाता है, उसी प्रकार अज्ञानान्ध का जीवन लक्ष्य भ्रष्टता रूपी विनाश पा जाता है। नेत्रहीन मानव सारथिहीन रथ के समान अकार्यकारी हो जाता है।

नाप्सु मूत्रं कुर्यात ।

जल मे मूत्र न करें। जल में मूत्र त्याग से वह दुष्ट, विषाक्त और

अग्राह्य हो जाता है। उसे पीने से रोगोत्पत्ति तथा स्वास्थ्य नाश होता है। जल सार्वजनिक सम्पत्ति है। कब किसे उसे पीना पड़ेगा इसका कोई नियम नहीं है। प्रत्येक मनुष्य पर सार्वजनिक स्वास्थ्य का जो उत्तरदायित्व है उसकी दृष्टि से उसे जल मे मूत्र त्याग न करना चाहिये।

मार्ग, भस्म, गोष्ठ, जुतीभूमि, जल, चिता, पर्वत, जीर्ण देवस्थान तथा वल्मीक में कभी मूत्र त्याग न करे। इसी प्रकार देवालय, परिषद्, वासगृह तीर्थ स्थान, विचार सभा, विद्याशाला, वटवृक्ष आदि स्थानों मे भी मूत्र त्याग न करे। मूत्र के लिये नियत या अपेक्षित स्थान मे मूत्र त्याग करें।

न नग्नो जल प्रविशेत् ।

नग्न होकर जल मे न घुसे। नग्नता दृष्टि कालुष्यकारी प्रवृत्ति है। नग्न होकर जल में घुसने तथा जल से निकलकर वस्त्र धारण करने तक रहने वाली नग्नता शिष्टाचार विरुद्ध है। नग्न होकर जल प्रवेश से सुकोमल मूत्र स्थान पर जल जीवों के दंश की सम्भावना भी रहती है। इस प्रकार का व्यवहार, निर्लज्जता तथा शिष्टाचार का परित्याग भी है। यह प्रवृत्ति सामाजिक सद्गुणों की विनाशक होने से त्याज्य है। जल प्रवेश ही नहीं, मनुष्य को मार्गगमन, भोजन, शयन, आदि मे नग्न नहीं रहना चाहिये। नग्नता सामाजिक सुरुचि पर पाशविक अत्याचार है। नग्न विचरण का केवल पशु को प्रकृतिदत्त अधिकार है। मनुष्य की लज्जारूपी दैवी-सम्पत ने नग्न रहना मनुष्य के लिये निषिद्ध बना डाला है। समाज की दृष्टि मे नग्न होने की बात तो अलग रही लोकचक्षु के बाहर जल मे भी नग्न होना निन्दनीय है। नग्नता समाज द्वेषी पशुसुलभ बर्बरता है।

इस श्लोक का एक रूप 'न नग्न प्रविशेतगम्' भी है।

यथा शरीर तथा ज्ञानम ।

जैसा शरीर वैसा ही ज्ञान होता है। मनुष्य ज्ञान उसके शरीर को जन्म देने वाले समाज जैसा ही होता है। मानव देह तो मनुष्यमात्र ने धारण कर रक्खी है, पर इस मानव देह मे मनुष्यता को प्रस्फुटित करने वाला ज्ञानदेह तो यही है इसकी स्वाभाविक स्थिति है। दुर्भाग्य से प्रत्येक मानव देहधारी ज्ञानी नहीं होता है। यह एक गम्भीर प्रश्न है कि मनुष्य

मानवता के समान अधिकार मानवदेह को धारण कर परस्पर वध्यघातक मानसिक स्थितियों को क्यों अपना लेता है ?

यथा बुद्धिस्तथा विभवः ।

जिसकी जैसी बुद्धि होती है, उसका वैसा वैभव होता है । जिसकी जैसी पाप-पुण्य प्रिया बुद्धि होती है, उसका उपार्जित या प्राप्त विभव भी उसे वैसा ही पतित या पुण्यात्मा बनाये रखने वाला हो जाता है । सुबुद्धि धन पुण्यार्जित से उपार्जित होता और पुण्य कर्म मे ही नियुक्त होता है । जैसे मनुष्य का उपार्जित धन उसका वैभव माना जाता है- उसी प्रकार उसके सदुपयोग, दुरुपयोग के सन्तोष और पश्चाताप भी तो उसके वैभव में ही सम्मिलित हैं । गर्हित उपायो से उपार्जित धन दुरुपयोग का पश्चाताप उत्पन्न करने वाला होता है । सदुपयोग से उपार्जित धन अनिवार्य रूप से सदुपयुक्त होकर उसे अक्षय सन्तोष रूपी वैभव से सम्पन्न बनाये रखता है । जिस मनुष्य का धन समाज-कल्याण मे सदुपयुक्त होकर मनुष्य-समाज को मनुष्य-तारूपी अक्षय दैवी सम्पत्ति से सम्पन्न बनाये रखने में काम आता है सपूर्ण राष्ट्र ही उस उदार मानव का वैभव बन जाता है ।

दुर्लभः स्त्रीबंधनान्मोक्षः ।

विधाता ने कान्ता और कनक दो स्थानो मे भ्रम का आधान किया है । उनमे कान्ता और काचन मे अनासक्त मानव-मानव नही भगवान है । यदि राजसक्त-सम्पन्न लोग अपने को इस बंधन से बचाकर नही रक्खें तो उनके मानवत्व के सम्मान का नष्ट होना तथा उनका राज भ्रष्ट हो जाना अनिवार्य है । राजकाजी लोग अपने जीवन में भोगपक्ष की उपेक्षा कर ही सफल शासक बन सकते हैं ।

स्त्री संबंधी भोग का बंधन सम्मुख आने पर उससे अपने को बचा सकना असाधारण मनोबल और तपस्या का काम है ।

स्त्रीनामसर्वाशुभाना क्षेत्रम् ।

स्त्री सर्वासुलभो का क्षेत्र है । स्त्री-संपर्क समस्त प्रकार की विपत्तियों

रात्रुताओं तथा पतन का कारण बन जाता है।

रामायण की घटना, महाभारत का गृह-कलह, पृथ्विराज जयचन्दों का विनाश तथा यवनो के स्त्रीलोभ से अनेक बार विध्वस्त हुआ राजस्थान इसका साक्षी है। इसलिए यह सून राजसस्था मे काम करने वालो से कहना चाहता है कि राजसस्था तथा राजसस्था का निर्माता राष्ट्र स्त्रीकरणों से आने वाली विपत्तियों के बचे रहने के लिए स्त्री जाति के सबध मे अपने कर्त्तव्य के विषय में पूर्ण सचेत रहे। यदि मनुष्य समाज स्त्रीजाति को अज्ञानाधकार मे रखकर उन्हें भोग साधन मात्र बनाये रहकर उन्हे अपने हाथ की कठपुतली बनाये रक्खेगा, तो इससे जहाँ देश पथभ्रष्ट होगा वहा पुरुष समाज स्वय भी पथभ्रष्ट होकर भ्रष्टा स्त्रियो के हाथो की कठपुतली बने बिना नहीं रह सकेगा।

मनुष्य समाज का प्राचीन तथा अर्वाचीन इतिहास या तो स्त्रीलाभ स्त्री प्रेरणा के कारण उत्पन्न हुई राष्ट्रीय, सामाजिक पारिवारिक तथा व्यक्तिगत विनाशों या कलहो घटनाओं से भरा पडा है। इसका एकमात्र प्रतिकार यही है कि मनुष्य समाज मे ज्ञान का प्रचार किया जाय और व्यक्तिगत कल्याण को सामाजिक कल्याण मे विलीन किया जाय। व्यक्तिगत कल्याण को सामाजिक कल्याण में विलीन कर देना ही मनुष्यता का सरक्षक आदर्श है।

न च स्त्रीणा पुरुषपरीक्षा।
स्त्रीणा मन क्षणिकम्।

वशुभद्देषी अर्थात् समाज हित मे अपना हित समझने वाले लोग स्त्रैण न बनें।

स्त्रियो मे आसक्त न होकर उनके सा केवल कर्त्तव्य का सबध रक्खें। स्त्री-प्रसक्ति से बचे रहने से मनुष्यता यश तथा सुप्रजा प्राप्त होती है और बुद्धि प्रखर हो जाती है। आत्मशक्ति से स्त्री-पुरुष दोनों पवित्र हो जाते हैं।

यज्ञफलज्ञास्त्रिवेदविद।

त्रिवेदविद अर्थात् वेदज्ञ वे लोग हैं जो समस्त यज्ञो के फल फलस्वरूप

परमेश्वर, औपनिषद् पुरुष या आत्म-स्वरूप को ठीक-ठीक पहचान चुके हैं।

जो लोग आत्मतत्व को नही समझते, वे किसी भी प्रकार वेदज्ञ नहीं हैं। धन्य हैं वे लोग जिनके जीवन यज्ञ का रूप धारण कर वेदो की टीका या भाष्यरूप होकर ससार के लोगों के सामने पाठयज्ञान ग्रन्थो का रूप लेकर रहने लगे हैं। ऐसे लोगो के जीवन ससारान्धकार में भटकने वाले लोगो के लिए ज्ञानदीप का काम करते हैं। इस सूत्र मे अथर्ववेद को ऋग्युज समाज में अन्तर्भाव करके चारो वेदो को त्रिवेद कहा है।

वेद का वेदत्व इसी बात मे है कि मानव-जीवन को सफल करने वाला जो उपाय प्रत्यक्ष या अनुमान से न जाना जा सके वह उससे जान लिया जाय। व्यवहार मे शुद्धि स्वरूप-बोध कि मैं कौन हू, दूसरे कौन हैं, ससार क्या है ? इनसे मेरे क्या सबध हैं यह बात ठीक समझ लेने से ही मनुष्य जीवन सफल होता है।

ईश्वर बोध से ही जीवन में पवित्रता आती है। ईश्वर मानव-जीवन की अनिवार्य आवश्यकता है। यही कारण है कि ससार भर में ईश्वर की कल्पना पायी जाती है। मानव जीवन को मनुष्यता मे ढालने का जो साचा है, वही तो ईश्वर है। जिस समाज की जैसी ईश्वर कल्पना होती है उस समाज का वैसा ही चरित्र होता है। मनुष्य की ईश्वर कल्पना में जहा दोष रह जाता है वही समाज का चरित्र दूषित हो जाता है, पर ससार की जो जाति चरित्रहीन हैं, उनकी ईश्वर की कल्पना मे ही दोष है।

स्वर्गस्थान न शाश्वतम् ।

कर्मोपार्जित दैहिक सुख भोग सदा नहीं रहा करते।

वे उस दिन नष्ट हो जाते हैं जिस दिन उसे देने वाले पुण्य भोगानुकूल कर्मों का प्रभाव क्षीण हो जाता है। मानव सुख-भोग समाप्त होने पर अपने को दु ख मग्न निराश्रय अवस्था में पाता है। भौतिक सुख-नाश के पश्चात् निराशा की घोर अंधेरी रातें अविचारशील मनुष्य के सामने आ खडी होती हैं। ऐसे समय यदि मनुष्य के निराशा से टूकटूक होने वाले भग्नहृदय को बचाने वाली कोई शाश्वत वस्तु इस ससार मे है तो वह भार-

तीय ऋषियों का ढूंढा हुआ आत्मस्वरूप का परिज्ञान ही है। इसे पा लेने पर फिर मनुष्य को हताश, निराश, दुःखी और साहसहीन नहीं होना पडता है। आत्मस्वरूप को जान लेना ही आत्मा को पा लेना है। ज्ञानार्जित सुख ही शाश्वत है।

स्वरूपज्ञान ऐसा ज्ञान है जो प्रारभ तो होता है परन्तु फिर नष्ट होना नही जानता। स्वरूपावबोध के इस मार्ग मे पाप, ताप आदि नामो वाले दुःख नहीं रहते। इस धर्म का थोडा सा भी आचरण मनुष्य को ज्ञान-रूपी महा भयकर-ससार भय से बचा लेता है।

मूर्ख से मित्रता जोडने तथा मूढता को दक्षता के साथ निन्दित ठहराने के लिए ही विवेकी शत्रु की उक्त मतग को उपमा के रूप मे उपस्थित किया गया है।

निहन्ति दुर्वचन कुलम्।

दुर्वचन से कुल के गौरव का नाश हो जाता है।

दुर्वचन कुल को कलकित कर देते हैं, वचन की निर्दोषता ही मनुष्य के उच्च कुल का प्रमाणपत्र है। दुर्वचनी लोग अपने कुल को निश्चित रूप से कलकित घोषित कर देते हैं। मुख से वचन निकलते ही सबसे पहले वक्ता के कुल का परिचय मिलता है कि यह कैसे कुल का है? मनुष्य व्यक्तिगत परिचय तो पीछे से होता है।

न पुत्र सस्पर्शात् पर सुखम्।

पुत्र-लाभ सांसारिक सुखो मे सर्वोत्तम सुख माना जाता है। इस सृष्टि के विधाता ने अपनी सष्टि-परम्परा को चलाने तथा माता पिता को सुदृढ रज्जुओं से बाधा हुआ है। इसी से यह सष्टि-परम्परा चली आ रही है। यदि ससार मे पुत्र सुख नाम की वस्तु न होती तो सष्टि परम्परा का चलना ही असभव हो जाता। पिता को दुःखमयी या पापमयी स्थिति से उबारने वाला पुत्र ही होता है।

विवादेधर्म मनुस्मरेत।

विवाद (कलह) के समय धर्म को भूल मत जाओ। धर्म को कलह

के समय भी अपनाये रहो। मनुष्य विवाद के समय धर्म को अपनाये रहे तो किसी पर अन्याय और अत्याचार करने से बचा रह सकता है। विवादों का शान्तिपूर्वक निर्णय तब ही होता है जब निर्णायक धार्मिक हों।

विवाद के समय अन्धा होकर किसी का विरोध न करना चाहिये। एक आंख से लडना चाहिए और दूसरी से अपना कर्त्तव्य-शास्त्र देखते रहना चाहिए। अन्धा विरोध मनुष्य का आत्मघात है। धर्म स्मरण से विवाद की मर्यादा का ज्ञान मिलता है।

विवाद के समय अपना लक्ष्य ध्यान में रक्खें। उस पर आंच आने वाली बात न होने दें।

निशान्ते कार्यं चिन्तयेत् ।

मनुष्य रात्रि का विश्राम समाप्त होने पर अपने दिन भर करने के समस्त कामों का विचार करे।

प्रभात काल या ब्राह्ममुहूर्त के समय मनुष्य की बुद्धिवृत्ति सतेज उद्भावनशील होती है। उस समय शरीर, इन्द्रिय तथा मन तीनों स्वभावतः और शान्त होते हैं। कार्य चिन्ता या दैनिक कार्यक्रम बनाने का काम अत्यन्त गंभीर है।

भौतिक दुःख इस संसार की अटल घटना है। ये लाख हटाने पर भी मनुष्य के देहेन्द्रियों के पास से नहीं हटते। उन्हें केवल मन से हटाया जा सकता है। उन्हें मन से हटाने का एकमात्र उपाय निर्वाण या मुक्ति की स्थिति को अपनाये रहकर जीवन बिताना है। अपना कर्त्तव्य पालन तो करना, परन्तु उस कर्त्तव्य से कामना में बंधन हो दुःखातीत स्थिति है।

अनार्यसंबन्धादुत्तमार्यशत्रुता ।

अनार्यों से सौहार्द बढ़ाने से आर्यों की शत्रुता अच्छी है। मायावी, कपटी, धूर्त मित्र से कर्त्तव्याकर्त्तव्य-विवेकी शत्रु अच्छा होता है। मूर्ख ही मनुष्य समाज का शत्रु है। और ज्ञानी ही उसका परम मित्र है। ज्ञानी की ओर से कभी अनिष्ट की शंका नहीं है।

आर्य तथा अनार्य विवेकी और अविवेकी के पर्यायवाची शब्द हैं।

अविवेकी के पास हिताहितबुद्धि नही होती

मनुष्य को देह-रक्षा के लिए जीवनोपकरणो का सग्रह करना पडता है। परन्तु उसे इस सग्रह मे सुख दु ख दोनो मे से किसी एक का वरण अनिवार्य रूप से करना पडता है। मनुष्य का साधन सग्रहरूपी कर्म सुख दु खो मे से किसी एक को उत्पन्न किये बिना नही रहता।

यह तो सब जानते हैं कि भोगाकाक्षा का कोई अन्त नहीं है। भोग्य सग्रह जिस मात्रा से किया जाता है, वह उसी मात्रा मे भोगाकांक्षारूपी आग की आहुति बनकर भा नको ही प्रज्वालक बनाता चला जाता है। भोगाग्निको भोगेन्धनो से तृप्त या निर्वापित नही किया जा सकता

देही देह त्यक्त्वा ऐन्द्रपद न वाछति।

देही को देह मे इतनी आसक्ति होती है कि वह वर्तमान देह छोडकर इन्द्र का पद तक लेना नहीं चाहता है।

मरकर सुख चाहने की इच्छा उधारी और काल्पनिक है। भौतिक सुख के लिए मृत्यु वरण अस्वाभाविक स्थिति है।

जैसे भारवाही ग्रीष्म यात्री विश्राम के लिए शीतल छाया वाले वृक्ष के आश्रय म जाना चाहते हैं, उसी प्रकार ससारी दु खो से पराभूत अज्ञानी मानव जीवन भर अपनी वर्तमान स्थिति से ऊंचे सुख वाली स्थिति की खोज मे मारा-मारा फिरा रहता है।

सारांश यह है कि

ससारी लोग ससारी सुख त्यागकर देवराज का पद तक नही चाहते।

दु खानामौषधनिर्वाणम ।

मोक्षलाभ कहते हुए जीवन बिताना ही दु खो का एक मात्र प्रतिकार है।

निर्वाण ही दु खो की औषध है। सुख-दु ख से अप्रभावित स्थिति लेकर उदार, वीर व्यवहार कुशल, प्रशस्त-जीवन बिताना ही दु खो की यथार्थ चिकित्सा है। बधन से मुक्त हो जाना या अबद्ध रहना ही निर्वाण या मुक्ति है। बन्धन और मुक्ति दोनो सापेक्ष शब्द हैं। बधन या मुक्ति

परस्पर विरोधी मानसिक स्थितियों के दो नाम हैं।

न च स्वर्गपतनात् परं दुःखम्।

साधारण मानव के लिए भौतिक सुखनाश से बढ़कर कोई दुःख नहीं होता। प्राप्त भौतिक सुखों का विनाश, पहले कभी सुख न मिलने से अधिक दुःखदायी होता है। आंख पाकर उन्हें खो बैठने वाले को जन्मांध की अपेक्षा अधिक कष्ट होता है। नगहीन अंगूठी उतनी बुरी नहीं लगती जितनी नग निकाली हुई लगती है। दुःखों को भोग लेने के पश्चात् ही सुख मीठा लगता है। जो मनुष्य दुःखों को जान-बूझकर स्वेच्छा से भोगता है, वह आपात दृष्टि से कष्टप्रद समझे तपस्वी जीवन को अपना स्वभाव बना लेता है। उसके पास जीवन भर दुःख नहीं फटकता।

सुख के साथ अभिलाषा का सम्बन्ध होते ही सुख मानव जीवन से अनुपस्थित हो जाता है। इसी प्रकार दुःख द्वेषी के पास से दुःख कभी नहीं हटते हैं।

मूढ अश्व को डराने वाली उसी की छाया के समान दुःख मनुष्य की एक काल्पनिक विभीषिका है। जो दुःख से डरता है, दुःख उसी से जा चिपटता है। दुःख को दुःख न मानकर उसे संसार की नियमावली का एक अकाट्य अंग मानकर कर्तव्य बुद्धि से सामर्थ्याधीन प्रतिकार या सहन करने से ही दुःख की दुःखदायिता मिटायी जा सकती है।

दुःख संसार से हट नहीं सकता। मनुष्य की बुद्धि हो तो वह दुःखों के विषय में अपना दृष्टिकोण परिवर्तित कर उन्हें दुःख-कोटि से निकाल बाहर कर कर्तव्य का अवसर मानकर सच्चे सुखी हो सकते हैं।

प्रातःकाले उत्तिष्ठति।

कल्याणार्थी मनुष्य सूरज निकलने से लगभग एक घंटा पहले नींद त्यागकर जागें और स्वस्थ मन से सबसे पहले अपने मानसिक उत्थान के लिए किए जाने वाले आज के कर्तव्यों का स्वरूप निर्धारित करें।

प्रदोषे न संयोगः कर्त्तव्यः।

जिसका विनाश उपस्थित होता है, जिसके बुरे दिन आते हैं, वही अनीति को अपनाता है। विनाशोन्मुख की बुद्धि नष्ट हो जाती है। अनीति

या दुष्ट नीति स्वय ही विनाश है। मनुष्य समुपस्थित साधनो की नीतिपूर्ण रक्षा करे।

यत्न से अर्जन करे तथा प्राप्तों का विवेक से उपयोग करे। यदि मनुष्य अपनी नीति-हीनता से अपने सचित साधनो की रक्षा, जीवनाय, आवश्यक पदार्थों का अर्जन और अर्जितो का सदुपयोग नहीं करेगा, तो क्लेश, दीनता तथा बुद्धिमान्द्य उसे लपट लेंगे।

क्षीरार्थिन किं करिण्या ?

जिसे दूध की आवश्यकता है, वह हथिनी को लेकर क्या करेगा। उसे गोपालन करना चाहिए। अपने प्रयोजन के उपयोगी द्रव्यो का ही सचय करना चाहिए, अप्रयोजनीय का नही। मनुष्य कोई वृथा काम न करे। वृथा कामो से बडे अनर्थ आ खडे होते हैं।

न दानसम वश्यम्।

दान जैसा लोक उपकार दूसरा नहीं है। धनी लोग दानरूप मे धन के सदुपयोग से समाज का हित और कीर्ति का उपार्जन तथा उपकृतो पर उपकार पा लेते हैं।

परायत्तेषूत्कण्ठ न कुर्यात।

तुम्हारे जो पदार्थ दूसरो के हाथ मे फस गए हो, उन्हे पाने के लिए उतावले मत बनो उन्हे पाने के उपाय करने चाहिए। इस सबन्ध मे उत्कठा से अपनी शक्ति पर श्रद्धाहीन नहीं होना चाहिए। दूसरो की शक्ति पर निर्भर न रहो। उतावलापन शक्तिहीनता का द्योतक है।

अग्नावग्नि न निक्षिपेत्।

आग में आग न डाले, क्रोध के उत्तर में क्रोध न करे। मनुष्य क्रोधाविष्ट के क्रोध को अत्यन्त उत्तेजित करने वाली ऐसी कोई बात या ऐसा काम न करे कि वह स्वय अशान्त हो जाय। दूसरा प्राण तक लेने को उद्यत हो जाय। क्रोधी की क्रोधाग्नि में कोई इंधन नहीं देना चाहिए। इसी

से कहा है—किसी के क्रोध पर विजय पाना हो तो अपनी शांति को सुरक्षित रखकर उत्तर दो। क्रोध करना स्वयं अशान्त होना और शत्रु के क्रोध को अत्यन्त भडकने का अवसर देना है। इसलिए जब कभी क्रोधी को प्रत्युत्तर देने का अवसर आए तब स्वयं संयत, अक्रोधी बने रहकर ही विजयी बने रहना संभव है।

तपस्विनः पूजनीयाः।

समाज के मार्ग दर्शक जितेन्द्रिय लोग समस्त समाज के पूजनीय होते हैं।

सत्पुरुष संसार में अपने संयत चरित्र से समाज को जन्म लेने कल्याण तथा शान्ति का मार्ग दिखाने वाले मार्ग दीप के रूप में जन्म लेते हैं। देश में जितेन्द्रिय लोगों के उदाहरणों का बाहुल्य होने से देश क्षोभ, उत्तेजना और दुश्चिन्ता से हीन होकर शांतपूर्ण बन जाता है। समाज का यथार्थ हित इसी में है कि तपस्वी लोगों के उदाहरण और अधिकता से दीखें, जिससे लोग जितेन्द्रियता की ओर प्रवृत्त हो जायें।

परदाराॅन् न गच्छेत्।

पर पत्नियों से संपर्क स्थापित करने की बात मन में भी न सोचे। ऐसा करना अग्नि में भयंकर उत्तेजना पैदा करने वाला व्यापार है। दुष्ट प्रवृत्तियों पर कठोर संयम रखने में ही मानव की तथा उसके सामाजिक जीवन की शान्ति संभव है। जीवन में इस प्रकार के अपराधों की कार्यकारी बन जाने देने से इन्द्रिय चापल्य, समस्त गुणों का निश्चित विनाश हो जाता है। मानव शान्ति के महान् आदर्श से अपने जीवन को और नरक बना लेते हैं। अपना सामाजिक मूल्य फूटी कौडी का भी नहीं छोडते हैं।

अन्नदानं भ्रूणहत्यामपि प्रमार्ष्टि।

अन्नदान भ्रूण हत्या का भी परिमार्जन कर देता है।

अपने पास रखे हुए अन्न का देव, द्विज, ब्रह्मचारी,

विद्यार्थी, दीन अंध, पंगु, रोगी, निःसहाय लोगों को ही यथार्थ स्वामी मानकर प्रेमपूर्वक कर्तव्य बुद्धि से दिया अन्नदान भयंकर पापों का भी परिमार्जन कर देता है।

सच्चे दान से मनुष्य की पाप करने की प्रवृत्तियां मर जाती हैं। अहंकारपूर्वक दिया दान-दान न होकर एक प्रकार का व्यापार है। जिस मनुष्य के हृदय में समाज की दुर्भिक्ष पीडा के समय समाज का अन्न कष्ट दूर करने की उदार भावना समाज-नारायण की अनन्य भक्ति का रूप लेकर उदित हो जाती हैं, उस मनुष्य के हृदय की पापवृत्ति नष्ट हो चुकी होती है।

न वेदबाह्योधर्मः।

धर्म वेद से बाहर नहीं होता।

मनु ने जिसका जो धर्म बताया है वह सब वेद में वर्णित है। वेद समस्त ज्ञान का सागर है। वेद विरुद्ध चलने से धर्म नहीं होता है। वेदशासन के अधीन रहना ही मानव धर्म है। आत्मज्ञान मानव हृदय में स्वभाव से विद्यमान है। मानव हृदय में स्वभाव से विद्यमान आत्मज्ञान ही ऋषि प्रचारित वेद है। भ्रम, प्रमाद, विप्रलिप्सा से हीन ऋग्वेदादि ग्रन्थ वेद कहाते हैं। आत्मा का अद्भुत अस्तित्व स्वीकार न करने वाले धर्म वेद बाह्य धर्म कहते हैं। वेद बाह्य धर्मों अर्थात् भ्रम, प्रमाद विप्रलिप्सा से अभिभूत लोगों के रचे हुए ग्रन्थों या उपदेशों से प्रतिपादित धर्मों का आचरण करने करने से मनुष्य का अकल्याण होता है। मैं कौन हूं? संसार क्या है? मेरे दूसरों के तथा इस संसार के परस्पर क्या संबंध है? इन अतीन्द्रिय तत्वोंपर अनुभवपूर्ण प्रकाश डालने वाले ग्रन्थ वेद हैं। अपनी इन्द्रिय शक्तियों पर विजय पाकर शक्ति के यथार्थ स्वामी की विजयमयी स्थिति लेकर रहना मनुष्य का जीवित वेद है। मनुष्य को कल्याण का मार्ग दिखाने वाली उसकी सदसद्विचार बुद्धि या उसका इन्द्रिय विजय ही वेद है।

कदाचिदपि धर्मं निषेवेत्।

मनुष्य कभी तो धर्मानुष्ठान करे। धर्मानुष्ठान ही मनुष्य जीवन का

प्रमुख ध्येय है। क्षण भर के लिए भी धर्मच्युत न होने का सिद्धान्त प्रचार करने योग्य है।०

न कदाचिदपि धर्मं निषेधयेत।

धर्म का विरोध कभी न करे और न कराये।

आत्मकल्याण मे मनुष्य मात्र का कल्याण तथा मनुष्य मात्र के कल्याण मे आत्मकल्याण देखने वाली बुद्धि ही वेदप्रतिपादित मानव धर्म है। क्रोध, लोभ या द्वेष से धर्म के प्रति अनादर की मन्थनकारी उत्तेजना मे मन, वाणी तथा काया तीनो म धीरज रक्खे तथा धर्म विरुद्ध आचरण को न तो स्वयं अपनाये और न दूसरो को धर्मनिषेध की प्रेरणा दे।

स्वर्ग नयति सुनृतम्।

सत्य मनुष्य को स्वर्गस्थ बनाता अर्थात उसे अखण्ड सुखमयी स्थिति मे आरूढ कर देता है। मनुष्य मात्र के कल्याण मे आत्मकल्याण बुद्धि ही सत्य है। मनुष्य का यथार्थ ज्ञान तथा तदनुकूल प्रमाणित आचरण उसके जीवन को तथा उसके समाज को अप्रत्यक्ष स्वर्ग बना देता है। दुःखातीत स्थिति ही स्वर्ग है। कामनातीत स्थिति ही सत्य है। सत्य को अपनाना ही अक्षय स्वर्ग पा लेना है।

सत्य का अर्थ प्रत्यक्ष भौतिक हानि उठाना और उठाकर भी आत्म-प्रसाद होने वाले सिद्धान्त को न छोड़ना है। असत्य का अर्थ प्रत्यक्ष भौतिक लाभ उठाने के लोभ म आकर सिद्धान्त का सिर कुचलना है। सत्य से मन का उत्कर्ष परन्तु भौतिक हानि अनिवार्य रूप से होती है क्योकि सिद्धान्त हीन लाभों को घृण्य जानकर त्यागना ही सत्य है। असत्य से मन का तो निश्चित रूप से पतन होता है, पर भौतिक लाभ होता है। ससार का भोगवादी बहुमत सत्य से भौतिक हानि तथा असत्य से भौतिक लाभ देखकर स्वर्ग को ठुकराकर नरक को अपना लेता है। सत्य को अपनाने वाले को ससार मे अपमान और उपेक्षा भोगनी पड़ती है। सत्य मनुष्य को और कुछ तो चाहे दे या न दे, वह उसे स्वर्ग तो निश्चित रूप से देता है। वह उसे दुःखातीत साम्राज्य का अनभिषिक्त भूपति तो बना ही देता है।

ससार म सवत्र सत्य की पक्ष लगने पर भी सच्चा के हृदयों में कभी भी विजय प्राप्त नहीं होती। अनृत चाहे सारे ससार पर राज्य करने लगे परन्तु उसे सच्चो के हृदय मे नियम से पराजित, अपमानित, धिक्कृत और अस्वीकृत होकर रहना पडता है। देवताओं का मार्ग सत्य से भरा पडा है। आप्त काम ऋषिलोग इसी सत्य के मार्ग से देवत्व को प्राप्त हुए हैं। आप्तकाम लोग जिस पवित्र मानसिक स्थिति म रहते हैं या रह रहे हैं वही सत्य का सनातन निवास है।

नास्ति सत्यात्पर तप ।

ससार का कोई भी तप सत्य से श्रेष्ठ नहीं है।

मनुष्य समाज के सावजनिक कल्याण म आत्मकल्याण बुद्धि ही सत्य है। कामनातीत स्थिति ही सत्य है। कामात्मता मनुष्य की आपात मधुर हानिकारक मनुष्यता विनाशिक, पतनकारिणी आसुरी प्रवृति है पर कामना के बिना मनुष्योचित जीवन व्यापार भी नही चलता। मनुष्य को कामनाओ के सदुपयोग की कला सीखनी चाहिए। मनुष्य कामनातीत बनने म ही कामनाओं का सदुपयोग कर सकता है। कामनाओं का सदुपयोग ही कामनातीत स्थिति पा लेना बन जाता है।

सत्य स्वगस्य साधन।

सत्यनिष्ठाकी स्वग का साधन भी तो स्वय सत्य ही है। मानव हृदय वासी सत्य का एक मात्र काम यह है कि वह स्वार्थी प्रवृत्तियों का परिमाजन कर व्यवहार को परमाथ बना डाले। सत्य सेवाथ भरी प्रवृत्तियो का परिमाजन कर मनुष्य को स्वगस्य दवता बना देता है। मनुष्य यह जाने कि सत्य स्वय ही अपना साधन है और स्वय ही अपना साध्य है। सत्यनिष्ठा मनुष्य सत्य से दूसरे किसी भी साधन को नहीं अपनाता। सत्य सत्य स्वातिरिक्त अवलम्बन नहीं चाहता। सत्य को अपनाने के लिये सत्यातिरिक्त साधना को अपनाना सत्य को त्यागकर असत्य को अपनाना होता है।

सत्येन धायते लोक ।

मानव समाज सत्य से ही सुव्यवस्थित रहता है। समाज के सार्वजनिक कल्याण म आत्मकल्याण बुद्धि ही सत्य है। सत्य ही मानव समाज को धारण करने वाला आश्रय या समाज बन्धन है। सत्यहीन समाज, समाज बन्धन हीन छिन्न छिन्न स्वेच्छारियो का उच्छृखल झुड है। असत्याचरण से इस ससार मे अव्यवस्था फैलती है, जो इसका सर्वनाश कर डालती है।

सत्याद देवो वर्षति ।

सत्य से मानव समाज के ऊपर देवो की कृपा बरसने लगती है। सत्याधीन समाज म देव शक्ति सत्य की वर्षा करती है। सत्यहीन समाज मे आसुरीशक्ति प्रबल बन जाती है। समाज म सत्याचरण की वृद्धिगत होने पर मानव समाज का अधिष्ठातृ देवता अपनी कृपावृष्टि करने लगता है। आत्मकल्याण को समाज कल्याण म विलीन कर डालने वाली मानवीय बुद्धि ही सत्य है। यह बुद्धि वह सत्य है, जो देवों को कृपा बरसाने के लिए विवश कर डालता है। इस सत्य के मूर्तिमान अवतार, ज्ञानवृद्ध समाज सरक्षक मुनि, ऋषि लोग ही कृपा बरसाने वाले देवता हैं।

इसके विपरीत प्राकृतिक विधान से अतिवृष्टि अनावृष्टि, उल्कापात, शलभ, दुर्भिक्ष, महामारी आदि सकटकाल आ खडा होने पर भी यदि समाज मे समाज कल्याण बुद्धि जाग रही हो और उससे समाज बधन सुदृढ रह रहा तो इन सार्वजनिक आकस्मिक विपत्तियो को व्यय करने की शक्ति समाज के सहयोग से उत्पन्न हो सकती है। समाज म आकस्मिक विपत्तियो को सामाजिक सहयोग स व्यर्थ करने की शक्ति के उत्पन्न हो जाने पर वह शक्ति सार्वजनिक कल्याण मे उपयुक्त होने लगती है और समग्र समाज पर सुख शाति बरसने लगती है।

नानृतात्पातक परम ।

अनृत व्यवहार से बढकर कोई पाप नही है।

सत्य को तो त्यागना और मिथ्याचारी सत्यद्रोही बन जाना अपनी मनुष्यता त्यागकर असुर बन जाना है जो कि ससार का सबसे बडा पाप

है। मनुष्य का शरीर मनुष्य नहीं है। उसका मन ही मनुष्यता का निवास स्थान है। जीवन में मनुष्यता की रक्षा न होने से मनुष्य मनुष्य माता के पेट से उत्पन्न होकर भी असुर बन जाता है। आसुरिकता मूर्तिमान् पाप है। आसुरिकता की नस-नस पाप से [illegible] नहीं रहती है। विश्वासपात्र के साथ अनैतिक व्यवहार कर सकने वाला, किस कौन सा पाप नहीं कर सकता है!

जो पुरुष विश्वासपात्र भद्र पुरुषों के साथ [illegible] करता है, वह पापी और चोर है।

संसार के समस्त व्यवहार वाणी से ही [illegible] निकलते और उसी पर आधारित रहते हैं। [illegible] वाणी का महत्वपूर्ण स्थान है। समस्त [illegible], जैसी वह मन से निकलकर आई थी [illegible], उसे अपने स्वार्थ से बदलकर चुराकर [illegible] समस्त चोरियों का अपराधी है।

पाता रहे। 'समाज की विचारधारा ऐसी होनी चाहिए कि समाज का प्रत्येक सदस्य समाज के सार्वजनिक कल्याण को अपना कल्याण समझकर समाजहित की अविरोधी प्रवृत्ति रखने वाला न हो पर यह कितनी दु:खद स्थिति है कि व्यक्तिगत धनाध्यक्ष अर्थात् अमीर बनने की संकीर्ण दृष्टि समाज से सामाजिक विचारधारा को छीन लेती है। 'अमीरी' नामक रोग ही समाज की दरिद्रता का उत्पादक है। इसके परिणामस्वरूप समाज में अनैतिकता, स्वार्थान्धता, विलासिता, व्यसनासक्ति, दुराचार के कारण दरिद्रता नाम की व्याधि उत्पन्न हो जाती है।

अतिशूरो दान शूर ।

दान मे शूरता दिखाने वाला सच्चा शूर है।

अपने पास धरोहर के रूप म रक्खी वस्तु को उसका सत्यरूपी वास्तविक अधिकारी पाते ही उसको उसे सौंपकर उऋण होने की स्थिति ही दान है। सत्य क हाथो मे आत्मदान कर चुका व्यक्ति अपनी सम्पूर्ण भौतिक शक्ति तथा सामर्थ्य को सत्य के हाथो मे सौंपकर सत्य को ही अपना कोषाध्यक्ष बनाकर निर्विघ्न बन जाता है। उसकी मानसिक शान्ति के सम्मुख समग्र विश्व की प्रतिकूलता पराभूत रहती है।

असत्य विरोध तथा अज्ञान संहार आदि राष्ट्रीय महत्व रखने वाले काम दानशूरो के कर्त्तव्यपालन की भावना से ही चलते हैं।

गुरुदेव ब्राह्मणेषु भक्तिर्भूषणम् ।

गुरुदेव तथा ब्राह्मणो (भूदेवो) की भक्ति ही मनुष्य को सुशोभित करने वाला भूषण है। विद्या, कौटुम्बिक संबंध तथा आयु म ज्येष्ठ सदुपदेशदाता, गुरु दैवीसंपत्ति रूपी भागवतसत्ता तथा तप श्रुतिसम्पन्न ब्रह्मदर्शी ब्राह्मणो की परमानुरक्तिरूपी भक्ति अर्थात् आत्मसुधार के लिये उनके वातावरण में आत्मसमर्पण करके रहना, मानव चरित्र का आभरण है। मनुष्य गुरु, ईश्वर तथा ब्रह्मवेत्ता लोगो के साथ अहेतुक अनुराग रखने से शिष्ट, शिक्षित, सदाचारी, विश्वसनीय तथा आदरपात्र बनते हैं।

सर्वस्य भूषणं विनयः ।

विनय अर्थात् सत्यनारायण की सेवा में आत्मसमर्पण कर सत्य-स्वरूप सुशील, नम्र, विनीत, कर्त्तव्यशील बन जाना मनुष्य मात्र का भूषण है।

कुलीनता के अहंकार में डूबे सत्यहीन, अविनीत व्यक्ति की अपेक्षा अप्रतिष्ठित घर में उत्पन्न होने पर भी सत्य को शिरोधार्य कर जीवन-यापन करने वाला विनीत व्यक्ति श्रेष्ठ होता है।

आचारवान विनीतोऽकुलीनोऽपि आर्यः ।

विनय तथा आचार से सम्पन्न मनुष्य उच्च कहलाने वाले कुल में उत्पन्न न होने पर भी आर्य ही है।

आचारादायुर्वर्धते कीर्तिश्च ।

सदाचार तथा विनय से हीन आर्य नामधारी भी अनार्य ही कहाता है। आचार तथा विनय ही आर्यत्व के हेतु हैं। अमर कोश में आर्य, सभ्य, सज्जन,साधु इन सबको एकार्थक कहा है।

सदाचार पालन से आयु तथा यश की वृद्धि होती है। सदाचार से इन्द्रियविजय, उससे स्वास्थ्य, उससे इन्द्रिय बल बढ़ता है।

प्रियमप्यहितं न वक्तव्यम् ।

अहितकारी प्रियवचन कभी न कहना चाहिए। हितकारी कटु बात तो कह दे, परन्तु किसी को अनुचित उपायों से सम्पन्न करने या ठगने के लिये अहितकारी प्रिय वचन न बोले। अहितकारी प्रिय वचन समाजहित के लुटेरे आततायियों को ही प्रिय रहता है। जिसे अहितकारी प्रिय वचन अच्छे लगते देखो, उसे निःशंक होकर आततायी मान लो। यदि किसी राष्ट्र के प्रमाद से उसकी राजशक्ति उजले वस्त्र पहनने वाले प्रभुतालोभी धूर्तों के हाथों में जा फंसी हो तो समझना होगा कि इस राष्ट्र ने अपने हितों को तिलांजलि देकर समाज के शत्रु धूर्तों को ही राष्ट्र पर प्रभुता

करने का अधिकार दे रक्खा है। तब समझना होगा कि वह राष्ट्र उन प्रभुतालोभी आततायियो के कानो का प्यारे लगने वाले, उनकी आसुरिक्ता की ही चाटुकारिता करने वाले वचनो, लेखो, व्याख्यानो, नारो तथा प्रचारो से लुटेरे, धूत असुरो को प्रसन्न करने मे लगा हुआ है और समाज के अहितकारी असुरराज का ही समर्थक बन गया है।

बहुजनविरुद्धमेक नानुवर्तेत।

बहुजनहित के विरुद्ध एक का अर्थात् किसी के व्यक्तित्व का अनुगमन न करे। मनुष्य अनेक (समाज) और एक (व्यक्तित्व) मे से त्याज्य ग्राह्य की समस्या उपस्थित होने पर एक अर्थात् व्यक्तित्व के पीछे अधा होकर चलने की प्रवृत्ति त्याग दे और अपनी स्वतत्र विचार बुद्धि को काम मे लकर उसी से अपना तात्कलित कर्त्तव्य निश्चय करे अर्थात् दल मिश्रित न हो, क्योकि दल व्यक्तित्वानुगामी होता है। यदि मनुष्य ऐसे समय अपने स्वतन्त्र विचाराधिकार को तिलाजलि देकर बहुजन अर्थात समाज विरोधी एक व्यक्ति के व्यक्तित्व का अधानुगमन करता है तो उसका आत्म-कल्याण नही होता। सर्वावस्था मे समाज-हित को ही ध्येय मानना चाहिए। ससार मे नेता या गुरु नामधारी लोग अनुयायियो को अपने व्यक्तित्व के पीछे चलाते आ रहे हैं।

इस सूत्र मे बहुमत के अधानुगमन का उपदेश नही है किन्तु एक के अधानुगमन का निषेध कर किसी के व्यक्तित्व के पीछे चलने का ही निषेध है। मनुष्य को सत्य को अपनाने और उसी के पीछे चलने का सतोष पाना चाहिए, किसी के अनुगमन का नही। बात यह है कि एक या बहुत दोनों से अप्रभावित रहकर केवल सत्य का अनुगमन करने से ही कर्त्तव्यपालन का सतोष होता है अन्यथा नही।

न दुर्जनेषु भागधेय कर्त्तव्य।

मनुष्य हीन स्वभाव वाले दुष्ट, क्रूर दुर्जनो का साझे मे कोई काम न करे। दुर्जनो को किसी काम मे साझी न बनाये। दुर्जन लोग स्वय तो नष्ट हो ही चुके होते हैं और दूसरो का भी नष्ट कर डालते हैं। ये बडे कृतघ्न

होते हैं। जैसे दुष्ट वायु म रहने से अस्वास्थ्य और रोग उत्पन्न होता है, उसी प्रकार दुजनसयोग स मनुष्य का दु खी होना अनिवाय होता है।

दुर्जन परिकर्त्तव्य सद्भावैयुक्तोऽपि सन्।

मदभावो से मण्डित दीखने पर भी दुजन से दूर रहना चाहिये। ये लोग ऊपर ही ऊपर दूध भर विष से भरपूर घडे के समान जिह्वा मात्र म मीठे और हृदय म अत्यन्त कड़वे होते हैं।

न कृतार्थेषु नीचेषु सम्बन्ध ।

सौभाग्यवान् नीचो स सम्बन्ध मत करो।

सौभाग्यशाली नीचा के सौभाग्य को लाभान्वित होने के लोभ मे उनमे घनिष्ठ सम्बन्ध मत स्थापित करो। नीचो की कृतार्थता, उनका सौभाग्य, उनकी मान प्रतिष्ठा, सब की सब नीचता है। नीच का सौभाग्य अकाल जलदोदय के समान न जाने कब, कहाँ प्रलय कर डाले। नीचो की सफलताओ और सौभाग्यलक्ष्मियो मे सम्मिलित हो जाना नीचता को ही अपनाना है। मनुष्य की नीचता को अपनाने से बडी दुर्गति और नही हो सकती। यह सब समझकर मनुष्य को नीच लोगो के भौतिक कुप्रभावा मे आत्मरक्षा करनी चाहिए।

ऋण शत्रुव्याधिर्विशेष कर्त्तव्य ।

ऋण, शत्रु तथा व्याधि को नि शेष करना चाहिए।

जब तक ऋण अग्नि, शत्रु तथा व्याधि को पूरा खत्म न कर डालो तब तक शान्ति से मन बठो। यदि ये शेष रह जाएगे तो इनके बढ जाने पर इनसे सम्पूर्ण विनाश हो जाने का डर है। इन्हे शेष रहने दिया जायेगा तो यथाक्रम विनाश, दाह, हानि तथा मृत्यु अवश्यभावी हो जायेगी। शत्रु आन्तर बाह्य भेद से दो प्रकार के होते हैं। पाप मनुष्य का अन्तर शत्रु है। उसे पहचानकर क्षण भर म भस्मीभूत कर डालना चाहिए। पाप मानव जीवन के सौंदय सौख्य यश का घातक शत्रु है।

भूत्यनुवर्तन पुरुषस्य रसायनम् ।

सम्पत्तियुक्त जीवन बिताना दीर्घायु तथा स्वास्थ्य का जनक है। जीवन में धनैश्वर्य संग्रह का प्रयत्न निरन्तर करते रहना ही पुरुष के लिए रसायन है। जैसे रसायन से वीर्यादि की वृद्धि होती है, उसी प्रकार धन-संग्रह सुखजनक होकर जरा, व्याधिविनाशक तथा दैहिक सुख देने वाला होता है। जरा तथा व्याधि के विनाशक द्रव्यों को 'रसायन' कहा जाता है।

मनुष्य रसायन से दीर्घ आयु, स्मृति मेधा, आरोग्य, यौवन देहबल, इन्द्रिय शक्ति तथा कान्ति प्राप्त करे। यही सब काम धनसंग्रह का काम जीवन-पर्यन्त चलना चाहिए।

नार्थिष्ववज्ञा कार्या ।

याचकों का अपमान न करना चाहिए।

अधिकारी अर्थियों की देश, काल पात्र के अनुसार यथोचित सहायता कर देनी चाहिये। न की जा सके तो उनके समक्ष विनय सहानुभूति के साथ मधुरवाणी से अपनी असमर्थता प्रकट कर देनी चाहिये।

आसन, भूमि, जल मीठी वाणी ये तो सत्पुरुषों के घरों से कभी नष्ट नहीं होती। सत्य की सेवा करने के लिये धन का सदुपयोग करना ही धनवान् का दानधर्म है। जब कोई सत्यसेवक सत्यार्थदान करने की दृष्टि से पात्र अपात्र विचार कर किसी सत्यनिष्ठ को अपने द्वार पाने का सौभाग्य प्राप्त करे, उसे उसकी उचित सेवा के द्वारा सत्य की सेवा कर कृतार्थ हो जाना चाहिये।

सुदुष्करं कर्म कारयित्वा कर्तारमवमन्यते नीचः ।

नीच व्यक्ति सुकठोर कर्म कर उसके न होने या अधूरा रह जाने पर या हो जाने पर भी कर्ता को सफलता का यश न देने की भावना से अपमानित किया करता है। नीच व्यक्ति काम भी कठोर करा लेता है और कर्ता को उसके कर्त्तव्य का यश न पाने देने के लिये उसका अपमान भी करता है।

यदि वह कम कर्ता की किसी दृष्टि से न हो पाया हो तब तो उसकी उचित मात्रा मे महणा ठीक है। यदि वह कम ही दुष्कर था और इसी लिए सफल नही हो सका तो उसमे उसका दोष नही है। अज्ञानी लोग दुष्कर कम की दुष्करता पर ध्यान न देकर उसका सपूण दोष कर्ता के सिर डाल देते हैं। ऐसे समय सोचना तो यह चाहिये कि हमारा काम कारण से विगडा है कि या कत दोष से ? यदि वह काम किसी त्रुटि वश पूरा न हुआ हो या पूरा होकर भी निष्फल रह गया हो तो उसे उसका यश न देने की दुरभिसधि त्यागकर उसका स्पष्ट रूप से कृतज्ञ होना चाहिए।

नाकृतक्षस्य नरकान्निवतनम ।

कर्ता का उपकार न मानने वाले अकृतज्ञ मनुष्य का नरक (अध पतन की अवस्था) से कभी उत्थान नही होता। अकृतज्ञ मनुष्य अपने इस दुष्ट स्वभाव से अपने सहायको को निरुत्साहित करके सहायकहीन बनकर अकेला रह जाता है और अपनी को अपने ही कृतघ्नता से सहायक खो देना ही नरक निवास है।

जिह्वायत्तौ वृद्धिविनाशौ ।

मनुष्य क वृद्धि विनाश उसकी सुवाणी तथा कुवाणी पर निभर होत हैं। यदि मनुष्य अपन सहकर्मियो का सम्मान तथा उनके प्रति कृतज्ञता प्रकट करता रहे तो उसकी वृद्धि और यदि वह उनका अपमान कर तो उसका विनाश होता है। मनुष्य क वद्धि विनाश वाणी के सदुपयोग दुरु-पयोग पर ही निभर होते हैं। मनुष्य दुर्वाणी से कायहीन तथा मधुरवाणी से अपनी वाणी को सयत रक्खे। मधुर भाषी सबका प्रेम प्राप्त करने म सफल हो जाता है। वाणी की कठोरता गदभ के समान कुत्ते के भौकने के समान मनुष्य को सबकी घृणा का पात्र बना दती है।

इस सूत्र मे जिस दूसरी इन्द्रियो का भी उपलक्षण है। जिह्वा क समान अन्दर इन्द्रियो के सयम तथा चचलतायें भी मनुष्य की वृद्धि या हानि करने वाली होती हैं।

विषाम् तयोराकरो जिह्वा ।

जिह्वा विष तथा अमृत चाहे जिस आकर की बनाई जा सकती है। मनुष्य अपने मन की स्थिति के अनुसार ही वाक्योच्चारण करता है। शान्त मन से शान्त वचन और अशान्त मन से अशान्त वचन निकलता है। अशान्त होकर वचन बोलना अशान्ति पैदा करने वाला होता है। बाण का घाव तो ठीक हो सकता है, परन्तु कटु वाणी का घाव जीवन भर नहीं भरता। इस दृष्टि से वचन को शान्त रखने का उपाय मन को शान्त रखना है। बाणो के घाव तो भर जाते हैं, परशु से काटे वन भी पुन फूट आते हैं, वाणी का बींचा घाव कभी नहीं भरता।

प्रियवादिनो न शत्रु ।

हितवादी का कोई शत्रु नही होता। बोलने वाले, दाता, उपकारी, साधु तथा बालक का ससार मे कोई शत्रु नही होता। मन को पतित करने वाले काम क्रोधादि मनोविकार ही मनुष्य के मूल शत्रु हैं। अपने मन को अपनी ओर से निर्वैर बना चुकने वाले की जिह्वा से सत्य को प्रकट करने वाला हित वचन सपूर्ण मनुष्य समाज का मित्र होता है। उसके बोल समाज मनुष्य को कल्याण मार्ग दिखाने वाले होते हैं। मनुष्य की दूसरो से जो व्यक्तिगत शत्रुता रहती है, वह भी वास्तव मे मनुष्य समाज की शान्ति पर आक्रमण करने दुष्टो के अहित, कटु, अयथार्थ, उत्तेजक वचनो से ही ठनती है। अपने समाज का अपनी ओर से शत्रु न बनना ही मनुष्य की निर्वैर स्थिति है। ससार मे ज्ञानी के शत्रु अज्ञानी ही हैं, पर ज्ञानी अपनी ओर से किसी के साथ शत्रुताचरण का अपराध नही करता है।

ज्ञानी पुरुष अपनी हितोक्तियो से सम्पूर्ण समाज का मित्र बना रहकर समाज के शत्रुओ को पराभूत करता रहता है।

स्तुता अपि देवता स्तुस्यन्ति ।

मधुर वचन के समर्थन मे ससार मे यह लोकप्रिय लोकोक्ति प्रचलित है कि स्तुति से तो अदृश्य देवता तक प्रसन्न होकर प्रार्थी की मनोकामना पूरी कर देते हैं मनुष्य का तो कहना ही है क्या ? शक्तिशाली सत्पुरुष के

कानो, म पडा हुआ उसका गुणकीतन व्यथ नही जाता है। वह उसे गुण-ग्राही सत्यवादी वादक के प्रति आकृष्ट करन वाला अमोघ साधन बन जाता है। सत्य ही मनुष्य हृदय का स्वभाविक स्वामी है। मानव हृदय का स्वाभाविक स्वामी सत्य ही सम्पूण मनुष्य समाज का शक्तिशाली प्रभु है। वाणी के द्वारा सत्य का प्रचार करन से समाज का कल्याण सुनिश्चित हो जाता है। सत्य का प्रचार कभी भी समाज का हित करन म व्यथ नही जाता है। मनुष्य को इस ध्रुव सत्य को ध्यान मे रखकर किसी के आसुरी प्रभाव म आकर सत्य की शक्ति के सबध म सदेहहीन नही हो जाना चाहिय यही उचित है।

अनृतमपि दुर्वचन चिरतिष्ठति।

दूसरो को सन्ताप पहुचान या अवज्ञा करने की भावना से कहना दुवचन अनृत (निराधार) हो तो भी श्रोता की स्मति पर चिरकाल तक अपना द्वेप मूलक हानि कारक दुप्ट प्रभाव बनाए रखता है। सन्ताप पहुचाने की भावना से किसी को साधार दुवचन कहना भी अनुचित है। निराधार दुव चन तो कभी किसी को कहना ही नही चाहिए। साधार दुवचन कहना पडे तो भी उसकी मर्यादाओ का पालन तो करना ही चाहिये। यदि दुवचन किसी अपराध की भत्सना रूप हो और उचित मर्यादा मे हो तो वह कल्याणकारी होता है। कतव्यवश किसी की वास्तविक भूल पर कहे गए अवज्ञा या सन्तापकारी वचन से अपराधी श्रोता का आत्म सुधार का अवसर दिया जाता है, सत्याधारित दुवचन इस विचार के प्रभाव से भीत्सित श्रोता की बुद्धि को विद्रोही नही बनाता। वह उसे आत्म सशोधन का अवसर देकर साथक हो जाता है। असत्याधारित या सहन की सीमा से स बाहर वाला दुवचन श्रोता को वक्ता स बदला लेने के लिए उत्तेजित करता है। दुवचन स्वय मे एक महापराध है। दुवचन का उद्देश्य या परि-णाम कलह है। वक्त का उद्देश्य ही उसक वचन के सत्यासत्य की कसौटी होता है। शुभ उद्देश्य से कतव्यवश कहा सभी वचन सत्य की ही परिभाषा म आ जाता है। कलह क उद्देश्य से उच्चारित प्रत्येक वाक्य मिथ्या होता है।

राजद्विष्ट न च वक्तव्य।

राजा के व्यक्तित्व पर अप्रिय आरोप नहीं करना चाहिए। राजा या उसके प्रतिनिधि को अप्रिय वचन कभी भी नहीं कहना चाहिए। राजा या उसके प्रतिनिधि को व्यक्तिगत रूप मे न देखकर उसे प्रजा की सामूहिक शक्ति के केन्द्र के रूप मे देखना और उसके साथ अनुत्तेजक नम्र वाग्व्यवहार करना चाहिए, क्योकि राजा के पास प्रजा की सामूहिक शक्ति केन्द्रित रहती है। इस कारण राज रोष मानव रोष से सहस्रो गुणा अधिक होता है। राजा के प्रति बोल गए अप्रिय वचनो से उसके मन मे वक्ता के लिए महा अनिष्टकारी रोष पदा होकर निश्चित हानिकारक हो सकता है। इसलिए राज शक्ति वालो के साथ सुविचारित सुसभ्य वाग्व्यवहार होना चाहिए। परन्तु इसका यह अथ नहीं कि मनुष्य औरो से साथ अप्रिय न भाषण करे। यहा केवल राजा के साथ वाग्व्यवहार की परिपाटी बताई जा रही है। राजा के ही समान देव, विप्र, गुरु, साधु, नारी, महापुरुष तथा अपरिचित लोगो के साथ भी सयत भाषण होना चाहिये।

श्रुतिसुखात्कोकिलालापानुष्यन्ति।

जैसे मनुष्य श्रवण सुख कोकिलालापो से तृप्ति अनुभव करते हैं, उसी प्रकार विज्ञ लोग राजाओ या राज्याधिकारी बडे बने हुए लोगो को श्रुति मधुर सत्यानुमोदित वाक्य परिपाटी से सन्तुष्ट रक्खें और अपने कामो म व्याघात उत्पन्न न होने दें।

अयोग्य राजा के साथ वार्तालाप करने की आवश्यकता पडने पर उसकी अयोग्यता पर कटाक्ष करने के लिये उसके कानो मे चुभने वाली बात कहकर उसे क्रुद्ध कर देना हानिकारक है। इस सूत्र मे कोकिल के का उदाहरण इसलिये दिया है कि जबकि मनुष्य के कण्ठ म श्रोता के कानो को पीडा न पहुचाने का सामर्थ्य है, तब उसका दुरुपयोग क्यो किया जाय? कान सदा ही अनुकूलता के प्यासे होते हैं, इसलिए वचन को कटु हो जान देना वचन कला की अनभिज्ञता है। ज्ञानी के कान सदा सत्य से प्यार करते है। अज्ञानी के कान सदा सत्य के शत्रु होते हैं। योग्य राजा को सत्य वचन सुनाकर तृप्त किया जाता है पर अयोग्य राजा सत्य से

रुष्ट हो जाता है।

सूत्र कहना चाहता है कि अयोग्य राजा को अकारण रुष्ट न कर उसे अपनी तात्कालिक वाक्चातुरी से तृप्त करना ही बुद्धिमत्ता है। साराश यह है वि जब कि राजा का हम से स्वतन्त्र कोई अस्तित्व ही नही है जबकि वह राष्ट्र के हाथो का यन्त्र मात्र है, तब राजा को सत्य सुनाने के सकट म न पडकर उसे अपन राष्ट्र सेवक कतव्य क्षेत्र मे ही सुनाने के लिए स्थगित रखना चाहिये।

५

तप्यते दुष्करकारी यत्नवान् नाम।

कुकम मे यत्न करने वाला व्यक्ति सन्ताप पाया करता है।

दुराचारी क्रूरकर्मा, कठोर स्वभाव वाला पुरुष अति उद्योगी परम निपुण होने पर भी अपने किये गर्हित कम के निकृष्ट फल से स्वय मेव भीतर ही भीतर पश्चातापाग्नि म दग्ध होकर अनुतप्त और विषादी होता रहता है।

जसे बालकपन मे विद्याध्ययन से मन चुराने वाले यौवन मे अपनी भूल पर पछताते हैं इसी प्रकार दुष्टकर्मा की अन्तरात्मा उसके गर्हित आचरण के लिय उसे सदा कोसती और नोच-नोचकर खाया करती है। इसके विपरीत साधुकारी स्वय भी सुखी रहता और दूसरो को भी सुख पहुचाता रहता है।

स्वधम हेतु सत्पुरुषा।

सत्पुरुषत्व का हेतु स्वधम होता है। स्वधमपालन से ही सत्पुरुष सत्पुरुष बनते हैं। स्वधमपालन (स्वकतव्यपालन सत्पुरुषों को ढालने वाला साचा है।

नास्त्यर्थिनो गौरवम।

समाज मे याचक का तथा कृपण धनी का सम्मानपूण स्थान नहीं है। यहा अर्थी शब्द याचक तक धनी दोनों का वाचक है समाज म न तो

याचक का सम्मानपूर्ण स्थान है क्योंकि वह प्रार्थी बन जाने से दीन है और न समाज मे उस अर्थ पिशाच धनी का कोई सम्मानित पद है जो समाज को लूटकर धन कमाता है और अनिवार्य रूप से सामाजिक अभ्युत्थान मे अपना आर्थिक सहयोग न देन वाला कृपण होता है।

स्त्रीणा भूषण सौभाग्यम्।

पतिव्रता तथा पति पुत्रादि से सौभाग्य शालिनी रहना स्त्रियो का भूषण है।

पतिव्रता होना ही स्त्री के लिय गौरव की बात है। विनय, क्षमा गृह-कार्य दक्षता, शिल्प, वैदुष्य, धीरता, ईश्वर भक्ति तथा पातिव्रत्य स्त्रियो के सौभाग्य हैं।

विवाहकाल के मान्त्रिक सस्कारो से पति पत्नी का ऐकात्म्य हो है। इसलिए पातिव्रत्य तथा सुयोग्य पति वाली होना स्त्रियो का सौभाग्य है।

विवाह काल मे पति पत्नी से वेद की भाषा म कहता है कि मैं तुम्हारे चित्त को अपन स्वीकृत व्रत मे सयुक्त करता हू। तुम्हारा चित्त मेरे उद्देश्य की अनुकूलता करता रहे।

पतिव्रता न होना, पति पुत्रादि से वचित होना तथा विनयादि उपर्युक्त गुणो से हीन होना स्त्रियो के लिय ज्वर के समान दु खदायी स्थिति है।

पति के सदाचार के सदृश्य आचार बनाकर रखना ही पत्नी का सौभाग्य है।

शत्रोरपि न पतनीयावृत्ति।

शत्रु की भी (वैध) जीविका नष्ट नही करनी चाहिये।

समाज का शत्रु मनुष्य मात्र का शत्रु होता है। समाज म अशान्ति फैलान वाला ही मनुष्य का शत्रु है। शान्ति रक्षा के लिये शत्रु दमन करना भी मनुष्य का कर्तव्य है परन्तु ध्यान रहे कि शत्रु की अशान्तिकारक प्रवृत्तियां ही दमनीय होती हैं। शत्रु के आहार के साथ मनुष्य समाज की कोई शत्रुता नहीं है। शत्रु को यदि वह वैध आहार कर रहा है तो उससे वचित कर देना उसे आहार सग्रह के लिये समाज पर और अधि-

आक्रमण के लिये विवश करना हो जाता है। शत्रु को उसके वैध आहार से वंचित कर देना समाज की शान्ति पर अधिक आक्रमण करवाना हो जाता है। अपनी वैध जीविका का अधिकार तो आततायी को भी है। जब वह समाज पर आक्रमण करता है तब उसकी आक्रामक प्रवत्ति को न रोककर उसकी वैध जीविका मात्र रोक देने से उसकी आक्रमण प्रवत्ति दुगुनी प्रोत्साहित हो जाती है। यह समझ लेना चाहिए कि आततायी को मिटाना तथा उसकी वैध जीविका नष्ट करना या दो अलग-अलग परिणाम रखने वाली दो अलग बातें है। आततायी का बाल बाका न कर सकना उसकी वैध जीविका पर आक्रमण करने से उसका आततायीपन नष्ट नही हो जाता है।

शत्रुभिरनभिपतनीयावृत्ति ।

बुद्धिमान की प्रवत्ति तक शत्रु का आक्रमण नही पहुचना चाहिय। मनुष्य को अपने जीवन साधनो को शत्रुओ के आक्रमणो से उस सुरक्षित रखनाचाहिये।

जहा जल सुलभ हो वही कृषि योग्य भूमि होती है।

जिस स्थान म कृषि के लिय अनायास जल मिल सके वही स्थान कृषि के योग्य होता है। कृषि के ही नही निवास के योग्य भी वही स्थान माना जाता है जहा जल अनायास मिलता है। मरुभूमि कृषि तथा निवास दोनों ही के अयोग्य मानी जाती है। नदी, समुद्र या सरोवरो के पास वाली सिकताहीन समतल उवरभूमि ही कृषि तथा निवास के योग्य और स्वास्थ्य कर होती है। क्षीयते धान्यादिभिरित क्षेत्रम' जो भूमि धान्यादि उत्पन्न करके क्षीण शक्ति होते रहती तथा बार-बार खाद मांगती रहती है। वह भूमि क्षेत्र या कृषि भूमि कहती है।

एरण्डमवलम्ब्य कुजर न कोपयेत्।

सारशून्य अदढ़ एरण्ड का आश्रय लेकर महाकाय हाथी को कुपित न करें।

क्षुद्र सहारे के भरो से बलवान् स न लड़ें। क्षुद्र साधन से बलवान का

ताडन निवतन, निग्रह या अवरोध सम्भव नही है किन्तु इससे अपना ही महा अनिष्ट हो सकता है। मनुष्य जैसा कार्य करना सोचे उसी प्रकार की सामग्री भी तो सचित करे। लघु उपाय से गुरु काय न छेड बैठे। जैसे नखनिकृन्तव से वृक्षच्छेद असम्भव है उसी प्रकार लघु उपाय से गुरुकार्य की सिद्धि असम्भव है। वक्षच्छेद कुठार से ही सम्भव है। 'आ इरति वायुमिति एरण्ड' जो वायु का विनाशक वृक्ष है वह एरण्ड कहलाता है। एरण्ड तैल तथा मूल की त्वचा अत्यन्त वायुनाशक होती हैं।

अविप्रवृद्धा शाल्मली वारणस्तम्बो न भवति।

अत्यत पुराना या अति विशाल भी शाल्मली हाथी का बन्धन नहीं बनाया जाता।

जैस पुराना विशाल शाल्मली कठिन तथा असार होने से हाथी बाधने योग्य नहीं माना जाता इसी प्रकार निबल मन वाले लोग चाहे जितने समृद्ध और हृष्ट-पुष्ट हो जाने पर भी बलवान् से टक्कर लेने योग्य नहीं होते। मनुष्य मे बलवद्विरोध के लिए अन्त सार (अर्थात् मनोबल) होना चाहिए। हार्दिक बल ही सग्राम की विशेष योग्यता है भुज बल नहीं। मेदस्वी स्थूलकाय लोग कृशकाय निरोग लोगो के साथ युद्ध छेडकर विजय नहीं पा सकते।

अतिदीप्तोऽपि खद्योतो न पावक ।

जैसे खद्योत चाहे जितना दीप्तिमान होने पर भी अपने शक्ति वैकल्य के कारण आग का काम नही दे सकता, इसी प्रकार निबल मन वालों से बल का काम नहीं हुआ करता है।

जैसे अति प्रज्वलित भी खद्योत आग के स्थान में उपयुक्त नही होता, इसी प्रकार निबलो से बल के काम नही होते हैं।

न प्रवृद्धत्व गुणहेतु ।

किसी का किसी बात मे वद्धि पा जाना उसके गुणी भी होने का प्रमाण या साधक नहीं है।

किसी का अवस्था धन, विद्या, यश आदि स वद्धि पा जाना अतिमान्य यशस्वी या महा वद्धि सम्पन्न हो जाना उसके धीरता, उदग्रता, सयम क्षमा आदि मानवचित गुणो से गुणी होन का प्रमाण नही है। कई लोग अवस्थावद्ध, विद्यावद्ध, धनवद्ध, यशोवद्ध, भाग्यवद्ध या सयागवद्ध होने पर भी अत्यन्त निर्गुण होते हैं। कई बार तो दखा गया है कि जहा यश होता हैं वहां धूतता की जडें पाताल तक गहरी चली गई होती हैं। यश और धूतता का प्राय साथ पाया जाता हैं। बडप्पनो के पीछे धूतता के विराट अड्डे पाये गये हैं। असाधारण दैहिक प्रदशन असाधारण भोजनाडबर, आत्मभरिता दिखावटी, त्याग, तपस्या और मुनिवेश धोखे की टटटियां पाई जाती हैं। इसलिए मनुष्य को इन यशोव्यवसायी बडे समझे हुए लोगो से सावधान रहना चाहिये। किसी का बडप्पन या यश देखकर अविचारित रूप से उससे प्रभावित नही हो जाना चाहिये। घनिष्ठ निरीक्षण के पश्चात् ही किसी का विश्वास करना चाहिये।

सुजीर्णोऽपिपिचुमन्दो न शङ्कुलायते।

जस अति पुराना भी नीम का काठ, लविश (चाकू) बनान के काम नही आता इसी प्रकार दुष्ट प्रकृति के लोग पुरान पडकर भी अपनी सारहीनता नही छोड देत और सारवान नही बन जाया करते।

जस कुत्ते की पूछ बारह बरस नलका मे रक्खी जाने पर भी अपना टेढापन नही त्याग देती इसी प्रकार गुणहीन लोग पुरान हो जान से अपने दुरभ्यास नही त्याग देत।

यथा वीज तथा निष्पत्ति।

जैसा बीज, वैसा फल।

जैसी जिसकी कारण शक्ति वैसा उसका फलविपाक। जैसी बुरी-भली भावना वैसा ही भाव। जस माता-पिता या समाज वैस ही बालक। जैसा बोयेगा वसा काटोगे। इसलिय बीज को सदा शुद्ध निर्दोष बनाकर रखना चाहिये। माता-पिता ही बालको के बीज हैं। उनमे निर्दोष आचरण होने स ही देश तो ऊच मनुष्य-निर्माण सम्भव हैं। मानव शिशु जिन या जसे

माता-पिता की गोद में उतरता है, उसमें अनिवार्य रूप मे उन्ही के गुण आते हैं। संयमी असंयमी माता पिता के संयमी असयमी सन्तति होती हैं।

यथाश्रुत तथा बुद्धि ।

जैसी जिसकी शिक्षा होती है, वैसी उसकी बुद्धि बनती है।

इसलिए शिक्षा में यह ध्यान रखना आवश्यक है कि विद्यार्थियो को भ्रान्त इतिहास, भ्रान्त विचार, भ्रान्त चरित्र, पढाया, सुनाया, सिखाया या दिखाया ही न जाय। जिन बालको की शिक्षा दीक्षा पर राष्ट्रो का भविष्य निर्भर है उनके चारित्रिक विकास के विषय में कितनी बडी साव-धानी की आवश्यकता है ? यह बात शिक्षा शास्त्रियो के सोचने की है।

यथाकुलम तथाऽऽचार ।

जैसा कुल वैसा आचार।

लोगो के आचार कुलो की आचार परम्परा के अनुसार होते है, उस कुल का लौकिक व्यवहार भी उसी प्रकार का उदार होता है। उस कुल में पले बालक का उदार होना स्वाभाविक होता है। आचार के कुलाचार, शिष्टाचार, लोकाचार, स्वाध्याचार आदि अनेक भेद होते हैं।

जिस कुल के बडे लोग सूरज निकलने तक सोये पडे रहते हैं, जिस कुल के बडे लोग खडे लोग होकर मूत्रोत्सर्जन करते हैं, उसके बालक भी खडे होकर मूत्र करने मे गौरव अनुभव करते हैं, जिस कुटुम्ब के बडे लोग एक थाली मे एक दूसरे का जूठा खा लेते और एक पात्र में जूठा पानी पी लेते हैं उस घर के बालको को उच्छिष्ट भोजन, धूम्रपान तथा उच्छिष्ट-पान में घृणा नही रहती। उन्हे पतित रोगियो की जूठन की सम्भावना वाले सार्वे के बाजारू पात्रों मे पेयपान करने मे घृणा नही रहती।

संस्कृत पिचुमन्दो न सहकारो भवति।

जैसे गुड आदि के संस्कारो से संस्कृत भी निम्ब वृक्ष नहीं बन आता आता, इसी प्रकार दुर्जन किसी प्रकार भी उपदेश, प्रचार आदि द्वारा दुर्जनता त्याग कर सज्जन नहीं बनता।

मनुष्य अपनी कुल परम्परा से ऊचा आचरण नही कर सकता। बालकपन मे अपने उत्पादक कुल मे सीखा हुआ स्वभाव सैकडो यत्नो से भी नही छूटता। जैसे मिट्टी के नये पा म सबसे पहले भरी हुई वस्तु का गन्ध उसके अन्तरतम तक समा जाती है और कभी नही बदलती, इसी प्रकार बाल्यावस्था मे सीखे कौटुम्बिक सस्कार अपरिवतनीय होते हैं।

न चागव सुख परित्यजेत।

ध्रुव अल्पसुख को अनागत अध्रुव बृहत के लिये न त्यागे।

अनकूल वतमान को त्यागकर अनिश्चित भावी की आशा से उसके पीछे दौडकर उभय भ्रष्ट न बने। आया सुख न छाडे। सुअवसर खोना नही चाहिये। सुअवसर गाढ़ा धकार मे प्रकाश दशन के समान दुलभ हुआ सुअवसर कभी-कभी आया करता है। सुअवसर सदा प्राथनीय और सदा उत्पादनीय होते हैं परन्तु मनुष्य को सुख के भ्रम म दु ख को नहीं अपना लेना चाहिए।

मनुष्य यह जाने कि इस ससार मे सुख की मूरत लगाकर ससार को ठगते फिरने वाले दु:खो की न्यूनता न ही है।

स्वयमेव दुख मधिमच्छबि।

मनुष्य स्वय ही अपने दु खो का कारण बना करता है, दूसरा नही।

दु:ख मनुष्य के अज्ञान से उत्पन्न हुआ रोग मात्र है। मनुष्य को बाहर) वाला कोई दु:ख देता है यह उसकी मूढ धारणा है। मनुष्य के पास तत्व-ज्ञान नाम की एक ऐसी कला है कि वह ससार भर के दु खो को समान सुख रूप मे परिवतन कर देती है।

स्वयमेव दुख मधिगच्छति राजचर्यात्)

मनुष्य अपनी धन शक्ति से अधिक राजाओ के आडम्बर (ठाठ-बात) बनाकर अपना व्यय बढ़ाकर अपने आपको दु खों म फसा लेता है। मनुष्य का भाग्य अपने ही हाथ मे सुरक्षित या अरक्षित रहता है।

चतुराई तो यह है कि व्यय आय से यून हो। जो कौडी को भी कुमाग

से नष्ट न होने देकर सहस्र सुवर्ण मुद्राओं की भांति बचाता और योग्य समय आने पर करोड़ो मुद्राओ को मुक्त हस्त होकर व्यय कर देता है, लक्ष्मी उस राजसिंह को कभी नहीं त्यागती।

निशाय न चरेति।

रात्रि म भ्रमण न करे।

रात्रि मे निशाचर दुश्चरित्र मनुष्य तथा हिंस्र पशु नि शंक होकर विचरण करते हैं इसलिए रात्रि भ्रमण से प्राण संकट हो सकता है। रात्रि मे समागत विपत्ति को दिखाने वाला प्रकाश तथा सहायको का सान्निध्य न होने से उस समय विपत्ति मनुष्य को सहसा पकड़ लेती है और, रात्रि-कालीन असावधानता से अप्रतिकार्य हो जाती है। रात्रि मे विपद्वारक सहायको का मिलना भी प्राय कठिन होता है। रात्रि भ्रमण से शरीर मे मे वायु कोप, अग्निमान्द्य, रुक्षता और स्वास्थ्यहीनता भी होती है।

न निद्रयते अर्धरात्रि ।

आधी रात बिताकर न सोये।

रात्रि का प्रथम याम बीतने पर सो जाना चाहिए तथा एक याम रात्रि रहते जाग उठाना चाहिये। केवल मध्य के यामो मे सोना चाहिये। ब्राह्म मुहूर्त मे उठना अत्यावश्यक होने से मनुष्य पहले प्रथम याम से अधिक न जागे। ब्राह्मे मुहूर्ते या निद्रा सा पुण्यक्षय कारिणी' ब्राह्म मुहूर्त की नींद पुण्यक्षय करने वाली है। आधी रात तक जागते रहने से दिन में सोना अनिवार्य हो जाता है, जो स्वास्थ्य के लिये हितकर नहीं है। दिन में सोना आयुर्वेद म प्राय समस्त रोगो का कारण बताया गया है। दिवा निद्रा से बचने के लिए प्रथम याम से अधिक नहीं जागना चाहिये।

कब सोना, कब जागना, कब खाना तथा कब चलना उचित है, ये बातें अनुभवी कुलवृद्धों, सभ्रान्त विद्वानों से सीखें।

अविचार शील लोग अपनी दैनिक चर्या में यथेच्छ व्यवहार कर निरन्तर रोगी रहते और क्लेश पाते हैं।

परिमित आहार विहार करने वाले युक्त अयुक्त जागरण तथा

युक्त शयन करने वाले के पास दु खना ग की कला आ बसती है।

अनाधिकारे न प्रवसति गृह।

बिना उचित कारण तथा बिना वैध अधिकार के दूसरे के घर मे प्रवेश न करे।

मनुष्य गृहस्वामी की प्रवेशाज्ञा, प्रगाढ परिचय या सुपुष्ट विश्वास होने पर ही पर गृह प्रवेश करे। इन परिस्थितियो के बिना पर गृह प्रवेश सकटपूर्ण तथा अपमानकारी होता है।

घर तो उपलक्षण है। दूसरे के स्थान, द्रव्य, शस्य क्षेत्र उद्यान आदि म भी प्रवेशानुमति पाये बिना जाना अनुचित है। इनम प्रवेश का अर्थ इनम से कुछ लेना है। अननुमत, अदत्त, अवैध स्वत्वहीन वस्तु को लेना चोरी है। धर्मशास्त्रकार तो परद्रव्य चुराने की भावना को भी चोरी म गिनते हैं। पाप भावना मे ही होता है, कर्म मे नही।

परद्रव्य हरण अपराध।

लोग अपनी सत्य स्वाभाविक बुद्धि से अपने काम को बुरा समझते हुए भी परद्रव्य हरणादि अपराध कर बैठते हैं।

यहा तक कि राज्य सस्था को हथिया बैठने वाले देश के गिने चुने चोटी के लोग भी राज्याधिकार का आस्वाद चखते ही अपनी मर्यादा भूल जाते हैं और राष्ट्र की धरोहर के चोर, डाकू, लुटेर, लम्पट, ठग बनने म राजशक्ति का जान-बूझकर दुरुपयोग करके विधान भग करते सविधान की प्रतिज्ञा को पद्दलित करते, पयोमुख विष कुम्भ' बनकर जनता को झूठे आश्वासन दे देकर मिथ्याचार करते हैं।

ये लोग जनता के अविश्वास-भाजन बनने का कोई डर नही मानते। य जनता के अपने दुराचारो से परिचित हो जाने पर भी निलज्ज होकर धुआधार व्याख्यान दे-देकर अपने मुह मिया मिटठू बनते फिरा करते हैं। ये लोग जनमत व्यवसायी चाटुकार पत्रकारो के स्तुतिलेखो को ही अपने राज्याधिकार का समर्थक तथा जनमत को दबाकर रखने वाली अव्यर्थ

शक्ति मानकर निर्भर होकर यथेच्छ अत्याचार कर प्रजा को जर्जरित कर डालते हैं। मनुष्य पहले तो दुष्ट स्वभाव के आधीन होकर उसी का दीन दास बनकर रहने लगता है। यह मानव जीवन का कैसा निकृष्ट पहलू है कि वह जानता हुआ भी दुराभ्यासवश पाप में हाथ डालने से अपने को रोकता नहीं है।

शास्त्रप्रधाना लोकवृत्ति।

लोकाचार शास्त्र के ही आधार पर प्रचलित हुए हैं। लोगों को चाहिए कि वे स्वेच्छाचार मूलक प्रवृत्तियों को हानिकारक समझकर उनसे बचकर रहें। शास्त्र विधि के अनुसार कार्याकार्य विवेक कर कार्यों में प्रवृत्त हों। शास्त्र तीन प्रकार का है—ऋगादिशास्त्र। सन्तों के नश्वर देह का अन्त हो जाने पर भी उनके अनुभवों से लाभ उठाते रहने के लिये शास्त्रों की सृष्टि हुई है। भ्रम, प्रमाद, विप्रलिप्सा इन तीन दोषों से हीन होकर लिखी गई पुस्तकें शास्त्र श्रेणी में आती हैं। 'तद्विद्धि परीक्षेत' में वर्णित है। व्यवहार पारंगत ज्ञानवृद्धों का जीवित अनुभव भी शास्त्र कहता है।

'सकलहि शास्त्रमिन्द्रियजय' में वर्णित हुआ है। अपनी इन्द्रियों की भोगाभिलाषाओं या कण्डूतियों का मनुष्य पर आधिपत्य न होकर उन सब पर मनुष्य के विवेक का ही पूरा-पूरा आधिपत्य हो और उसकी इन्द्रिय शक्तियों का जीवन-यात्रा में केवल सदुपयोग ही सदुपयोग हो, यह भी एक महान् जीवित शास्त्र है। मानव की प्रवृत्ति इन तीनों प्रकार के शास्त्रों के पूर्ण नियन्त्रण में हो। इसी में उस कल्याण है। बोधायन के शब्दों में शिष्ट वे हैं जो वेदज्ञ रागद्वेषादि—परित्यागी ईर्ष्या, अहंकार, कपट, लोभ तृष्णा, शंका, क्रोध से हीन है। जो दस दिन मात्र अन्न से सन्तुष्ट है, ईश्वर-भक्ति, पितृमातृ भक्ति करते हैं। शान्ति प्रकृति हैं, स्वतन्त्रता प्रिय हैं। असूया कटुपन से अतीत स्पष्ट भाषी, कृतज्ञ, धार्मिक तथा स्थिर हैं, वे शिष्ट कहलाते हैं। शिष्ट वही हैं, जिनके मानसिक वाचिक तथा कायिक आचरण आठों पहर व्यर्थ के कलंक से मुक्त रहते हैं। जिसका एक भी आचरण व्यर्थता के लपेट में आ जाता है, वह कदापि शिष्ट नहीं है।

शास्त्राभावे शिष्टाचारमनुगच्छेत्।

जिसे शास्त्र का ज्ञान न हो या जिसका विवेच्य विषय शास्त्र मे अवर्णित हो वह शिष्टाचार को माने।

सूत्र कहना चाहता है कि श्रुति, स्मृति, इतिहास, पुराण, धर्मशास्त्र न जानने वाले लोग धर्मिष्ठ विद्वानो के आचरणो को ही शास्त्रोपदेश के समान प्रमाण मानकर तदनुसार आचरण करें। मनुष्य जाने कि धार्मिक लोगो के आचरण ही तो शास्त्रो मे लिखे हुए हैं। इसीलिए धर्मशास्त्रो मे वर्णित शिष्टाचार, कुलाचार, देशाचार, स्त्र्याचार आदि धर्म मे प्रमाण माने है।

शिष्ट वे हैं जिनके हाथ, पैर, नेत्र, वाणी आदि चपल न होकर मानव-जीवन के लक्ष्य मे पूर्ण सयत हैं। शिष्ट वे हैं जो न अनधिकृत काम मे हाथ लगाते, न अनधिकृत स्थान पर पैर रखते, न पाप दृष्टि से किसी को देखते और न किसी से असयत भाषण करते हैं। शिष्टों का समाज को धर्म भावना सिखाने का जो महान् उत्तरदायित्व है, उसे ध्यान मे रखकर वे लोग अति सावधान जीवन बिताते हैं।

नाचरिताच्छास्त्र गरीय।

शास्त्र का महत्व शिष्टाचार से अधिक नहीं है। शास्त्र का व्यावहारिक रूप ही तो शिष्टाचार है। यही कारण है कि शास्त्र और शिष्टाचार के विरोध मे शिष्टाचार ही प्रमाणित और अनुकरणीय माना जाता है। शास्त्र लोगो को इतना नही सिखाता, जितना शिष्टाचार सिखाता है। शास्त्रानभिज्ञ लोग भी शिष्टाचार परम्परा के अनुसार धार्मिक जीवन बिताते चले जाते हैं। शिष्टाचार शास्त्र ज्ञान प्राप्त न कर सकने वालों का मार्ग दर्शक होता है। शिष्टाचार जीवित शास्त्र है। यह समाज रूपी जीवित ग्रन्थ के आचरणरूपी पृष्ठो पर लिपिबद्ध होकर अमिट शास्त्र बना रहता है।

दूरस्थमपि चारचक्षु पश्यति राजा।

राजा अपने दूतों की आखों से दूर-दूर देश-विदेश की बातें समीपस्थ

के समान जान लेता है।

गौवें गन्ध से, मनुष्य आंख से, विद्वान् बुद्धि से और राजा दूतो से देखा करते हैं। गौवें गन्ध से खाद्याखाद्य पहचानती, ब्राह्मण वेद से कर्तव्य पहचानते, हैं। राजा चारों (गुप्तचरो दूतो) से राष्ट्र परराष्ट्र की वस्तुस्थिति को समझते तथा साधारण लोग आंखो से अपना गन्तव्य मार्ग पहचानते हैं।

गतानुगतिको लोक ।

'साधारण लोक (विचारशील न होकर) गतानुगतिक होता है।

बुद्धिमान् लोग प्रकृत विषय पर पूर्ण विचार कर, अहितकर, मार्ग त्याग कर हितकर को अपनाते हैं। मूढ लोग प्रकृत विषय पर स्वय कोई विचार न कर, दूसरे के चाहे या कहे अनुसार आचरण करते हैं। उनके पास वस्तु-विवेक करने वाली बुद्धि नही होती। वे सब कुछ ससार की देखा देखी करते हैं। वे घुडदौड के घोडो के समान लोक प्रवाह मे व्यर्थ दौड करते हैं। आगे पीछे पंक्ति बनाकर उडने वाले सारस पंक्तियो के समान लोग प्रवाह के पीछे दौडा करते हैं। लोक ही उनका शास्त्र होता है।

ससार मे दैवी और आसुरी दो प्रकार की प्रवृत्तिया सदा से चली आ रही हैं। शुभ प्रवाह म प्रभावित होने वाले लोग शुभ कर्मी और अशुभ प्रवाह मे प्रवाहित होने वाली प्रजा अशुभ कर्मी हो जाती है। सर्वसाधारण के लिये विचारपूर्वक काम करना शक्य नही होता। साधारण प्राणी सोचकर काम नहीं करता। वह तो करके सोचता है। करके सोचने का परिणाम पश्चाताप और दु ख होता है। परन्तु साधारण जनता के पास इस दु खदायी मार्ग से बचने की बुद्धि नहीं होती और वह दु ख-परम्परा मे ही उलझी पडी रहती है। जो व्यक्ति स्वय हिताहितविचार से शून्य है उसके गतानुगतिकता से शुभकर्मी दीखने पर भी उसके शुभ चरित्र को, ज्ञानपूर्वक न बनाकर अकस्मात् कोई आकृति बना डालने वाली घुन (कीट) के निर्मित आकार के समान तब तक कोई मूल्य नही है, जब तक वह स्वय विचारवान् बनकर शुभाशुभ मे से अशुभ को जानबूझकर त्यागकर शुभ को जान बूझकर नहीं अपनाता।

यमनुजीवेत नापवदेत।

ओ राजहंस! यदि नीरक्षीर विवेक में तू ही आलस्य करने लगेगा तो बता संसार में और कौन कुलव्रत पा लेगा!

मनुष्य अपने उपजीव्य की निन्दा न करे। ऐसा करने से जीविका का व्याघात होता है। यह समस्त संसार धन, पुण्य, धर्म जीविका आदि के प्रसंगों में उपकार्य उपकारक तथा ऊंच-नीच भाव से परस्पर बंधा रहकर ही निर्विघ्न चल सकता है। उपजीव्य की निन्दा से उपजीवि तथा उपजीव्य का यह सम्बन्ध टूटकर जीवन यात्रा का विघ्न बन जाता है। ऐसे अनिष्ट-कारी प्रसंगों से बचने का एकमात्र उपाय वाक्यसंयम है। क्या बोलना, क्या नहीं बोलना! यह परिणाम तक सोचे बिना एक भी वाक्य न बोलने से इस प्रकार के संकटों की उत्पत्ति स्वयमेव रुक जाती है। वाणी पर विजय पाने से मनुष्य विश्व विजय पा लेता है। यदि तुम एक ही काम से विश्व-वशीकार करना चाहो तो अपनी वाणी रूपी गौ को परनिन्दारूपी दूषित शस्य मत खाने दो।

तपः सारं इन्द्रियनिग्रहः।

जितेन्द्रियता ही तपस्या का सार है। मनुष्यों की, लोगों की तथा राजकर्मचारियों की ज्ञानेन्द्रियां तथा कर्मेन्द्रियां उनके कर्त्तव्य-पालन में विघ्न डालने वाली भोग लालसाओं की पूर्ण उपेक्षा करने लगें हैं। वे अपनी लालसाओं को कर्त्तव्य-पालन का विघ्न न बनने देती हों, वे उन्हें कर्त्तव्य-पालन से रोकने में असफल होने लगी हों यही उनकी समस्त तपस्याओं का निचोड़ है। यदि मनुष्यों राजकर्मचारियों या लोगों के जीवन में कर्त्तव्य हार या दब गया हो और भोगलालसा या इन्द्रिय लोलु-पता प्रबल हो गई हो, तो उनकी सारी तपस्या फूटी कौड़ी के भी मूल्य की नहीं रहती।

अनिन्द्रियविजयी, विषयानुरागी लोग वनों के एकान्तों में भी दोषों की क्रीडास्थली बन जाते हैं। यदि मनुष्य घर में रहकर या जीवनरक्षार्थ उद्योग करता हुआ इन्द्रियों पर वशीकार पाकर रहे और उन्हें अपने सिद्धान्त का वध न करने दे तो वह तप कर रहा है। जो मनुष्य अनिन्दित

आचरण कर रहा है और व्यवहार को ही परमार्थ बनाने में लगा हुआ है उस निवृत्त राग पुरुष का तो पारिवारिकों से भरपूर घर ही एकान्त तपोभूमि बन जाता है।

तपोवन किसी को तपस्वी नहीं बना देता। तपोवन में जा बसने से कोई तपस्वी नहीं बन जाता। किन्तु तपस्वी लोग समाज कल्याणकारी कर्त्तव्य के आह्वान से जब जहां जाते और रहते हैं तब वही उनका तपोवन बन जाता है। जो तपोवन समाज-कल्याणरूपी कर्त्तव्य से हीन होते हैं, वे तपोवन कहाने वाले स्थान भी स्वेच्छाचारी पतित जीवन की लीलाभूमि होते हैं।

असत्समृद्धिरसद्भिरेव भुज्यते।

बुरों की सम्पत्ति (या बुरी सम्पत्ति) बुरों ही की भोग्या बना करती है।

गर्हित उपायों से उपार्जित धन का कुमार्ग और कुकर्म व्यय होना अनिवार्य होता है। पर-पीड़ा, चोरी, उत्कोच, अनुचित लाभ, वंचन, अपहरण आदि उपाय धनागमन के गर्हित उपाय हैं। गर्हित उपायों से प्राप्त धन का निन्दित कार्यों में व्यय होना अनिवार्य है। उचित उपायों से आया धन ही उचित कार्यों में व्यय होता है। सिद्धान्तपूर्वक उपार्जित धन का सिद्धान्तपूर्वक व्यय होना अनिवार्य है। अनुचित उपायों से उपार्जित कृपण का धन न तो किसी शुभकर्म में व्यय होता है और न किसी गुणी के अभाव अभियोग पूरा करने में काम आता है। वह या तो चोर के या राजा के घर खाया जाता है।

निम्बफलं काकैर्भुज्यते।

जैसे नीम या निन्दित कटु फल कौवों के ही काम आता है, उसी प्रकार अशिष्ट उपायों से उपार्जित धन चरित्रहीन लोगों के ही निन्दित भोगों में काम आया करता है। इसीलिए मनुष्य उचित उपायों से धनोपार्जन करे। जिससे जीवन-यात्रा भी हो और मन का उत्कर्ष भी हो। मनुष्य केवल जीवन-यात्रा चलाने योग्य, सो भी अपने अनिन्दित शुभ कर्मों से, शरीर को

संकट में डाले बिना धनसंचय करे।

नाम्भोधिस्तृष्णामपोहति।

जैसे समुद्र का खारा पानी किसी भी प्यासे की प्यास बुझाने के काम नहीं आता, इसी प्रकार अशिष्ट उपायों से उपार्जित धन किसी भी अच्छे काम में अर्थात् किसी भी सच्चे अधिकारी की कामना पूरी करने के काम नहीं आ सकता।

जैसे बालुका अपने रूक्ष कर्कश स्वभाव को ही पकड़े रहती है, इसी प्रकार कोई भी असत् मनुष्य अपना स्वभाव नहीं छोड़ता और अपने गर्हित उपायों से उपार्जित धन को सत्यार्थ सदुपयोग करने को उद्यत नहीं होता है।

किसी से स्वभाव विरुद्ध आशा नहीं की जा सकती। अभद्र पुरुष अपने धन का सदुपयोग कर दे, ऐसी आशा करना बालुका से तेल पाने जैसी वन्ध्या इच्छा है।

सन्तोऽसत्सु न रमन्ते।

भद्र पुरुष अभद्र पुरुषों के साथ हिलमिलकर नहीं रहा करते। भद्र पुरुष भद्र लोगों के ही साथ संग करते हैं। मनुष्य समाजजीवी प्राणी है। सत और असत् दो प्रकार का मनुष्य समाज होता है। जिसके जैसे साथी होते हैं, उसका स्वभाव वैसा ही होता है। जिसका जैसा स्वभाव होता है उसके साथी भी वैसे ही होते हैं। विपरीत स्वभाव-वाले परस्पर मिलकर नहीं बैठा करते।

न हंसा प्रेतवने रमन्ते।

जैसे हंस श्मशान में नहीं रमते, इसी प्रकार गुणी लोग अयोग्यों के संग में रहना स्वीकार नहीं करते। गुणी लोग एकान्त में अज्ञात जीवन बिता देना तो स्वीकार कर लेते हैं, पर बुरी संगत में रहना कभी स्वीकार नहीं करते।

मनस्वी लोग वन में खिले कुसुम-स्तबक के समान या तो लोगों के

चिरोधार्य होकर रहते हैं या वन मे पड़े-पड़े सूख जाते हैं।

शान्तिप्रिय मनुष्य का स्वभाव अनुद्वेगकारी, शान्त, अनुकूल स्थान मे रहना स्वीकार करता है, उद्वेगकारी अशान्त प्रतिकूल मे नहीं। भलो को बुरे वातावरण में रहने से उद्वेग होता है। बुरो को अच्छा शान्तिपूर्ण वातावरण सहन नहीं होता है।

दुर्जनों की चौपालें परनिन्दा से मुखरित रहती हैं। उन्हें परनिन्दा के बिना रोटी नहीं पचती। काक षड्रस खाकर भी जब तक विष्ठा नही खा लेता तब तक उसका मन नही छकता।

अर्थार्थं प्रवर्तते लोके ।

सारा संसार अर्थ के लिये कर्म मे प्रवृत्त होता है। सबको जानना चाहिये कि अर्थ जीवन का साधनमात्र ही है पर लक्ष्य नही है क्योंकि लोग जीवन का लक्ष्य निश्चित करने मे भ्रांति कर लेते हैं इसलिये वे असदुपायों से धनार्जन करने लग जाते हैं। जब मनुष्य भ्रान्तिवश इन्द्रिय सुख को ही जीवन का लक्ष्य बना लेते हैं, तब उनके मन का इन्द्रिय-दास बन जाना स्वाभाविक हो जाता है। कामना तथा दुःख, ये दोनो इन्द्रियो की ही दासता के ही नाम हैं। जो मनुष्य इन्द्रिय सुख को जीवन का लक्ष्य बनाकर धनोपार्जन करते हैं, उनका धन सुख-साधन न रहकर दुःख साधन रह जाता है। वह अपने ही उपार्जित धन से दुःख मोल लेता चला जाता है। उसका धन असदुपायो से अर्जित होने के कारण असत्य सेवारूपी दुराचरण में ही दुरुपयुक्त होता है। इसके विपरीत जिसके जीवन का लक्ष्य इन्द्रियों पर मन की प्रभुता सुप्रतिष्ठित रखना होता है, वह अनिवार्य रूप से सदुपायो से ही धनार्जन करता है। उसके जीवन का लक्ष्य जिस किसी प्रकार धनार्जन कर लेना न होकर सदुपायो से ही धनार्जन करना होता है। मन पर सत्य की प्रभुता को सुप्रतिष्ठित रखना ही उसका लक्ष्य होता है। वह सत्यस्वरूप प्रभु की सेवा को द्वार बनाकर धनपार्जन भी करता और उसे सत्य की सेवा मे लगाकर अखण्ड सुखमयी चिरशान्ति का उपार्जन भी कर लेता है।

सब मानते हैं कि धन जीवन की अत्यावश्यक वस्तु है। परन्तु धन ही

तो सब कुछ नही है। मानव जीवन म मानवोचित गुणो का ही तो धन से ऊचा महत्वपूण स्थान है। धन को मानवोचित गुण से अधिक महत्व दना तो मनुष्य की पाशविक प्रवृत्ति है, इसलिये यदि अपने समाज को मानव समाज बनाना हो तो मनुष्य की आख मीचकर अर्थार्थी बन जाने की प्रवृत्तियो पर रोकथाम रखकर अपने समाज को सामाजिक गुणो को बचना होगा।

आशया बध्यते लोक ।

अविचारशील ससार कत्तव्य के बन्धन मे आबद्ध न होकर आशा के बन्धन म बधकर काम करता और अपना धय खोता रहता है। 'यह मुझ मिल जाय' इस प्रकार की आकाक्षा ही आशा है। आशा मे रहना, शुभ भावी की प्रतीक्षा मे वतमान का शुभ उपयोग न कर सकना हानिकारक मनोदशा है। मनुष्य आशा की दासता मे अधीर होकर कत्तव्य म हाथ डालकर दुखी होता है। समाज क उत्थान म आशा के दास मनुष्यो का कोई स्थान नही है। समाज के अभ्युत्थानो के कत्तव्य म अपने को झोक देने वाले तथा फल मिलने, न मिलने के प्रति उदास रहने वाले कत्तव्यनिष्ठ लोगो का ही समाज म महत्वपूण स्थान होता है। समाज की उन्नति कत्तव्यपरायण कत्तव्यक सवस्व लोगो के अदम्य उत्साहो पर ही निभर करती है।

आशा ससार के यात्री मनुष्य को डुबाने वाली नदी है, मनोरथ उसके जल हैं तृष्णा उसकी तरग है, राग उसम रहने वाला मगरमच्छ है, वितक नाम के पक्षी इसके किनारो पर बैठे रहते हैं। यह आशा नदी धयरूपी द्रुम को जड से उखाड फेंकती है। मोहात्मक भवरो से दुस्तरणीय लम्बी चौडी चिन्तायें इस नदी की द्वितट भूमि है। इस नदी को पार करना विचारशील मन वाले ममयोगियो का काम है। यदि मनुष्य सुखी जीवन व्यतीत करना चाहे तो उसे आशा के बन्धन म न रहकर कत्तव्य के कठोर नियम म बन्धन म रहना ही होगा।

न आशापरे श्री सह तिष्ठति।

आशापरायण व्यक्ति सदा श्री-हीन रहा करते हैं। आशा अर्थात्

विषय स्पृहा के पीछे-पीछे मारे फिरने वाला और यदि वह पूरी न हो तो अपने आपको अकृतार्थ, असफल और विनष्ट मानकर हतोत्साह हो बैठने वालो के पास सम्पत्तिया निवास नही करती है।

सम्पत्तिया तो भयकर से भयकर विपत्ति के दिनो मे भी साहस को कभी न त्यागनेवालो, निराशा दीखने पर भी कभी उद्यम तथा कर्म का त्याग न करने वालो के ही साथ रहती हैं। यदि मनुष्य आशा पर निर्भर न रहकर कर्तव्य पालन पर निर्भर रहे तो श्री (सफलता) को झक मारकर उसके पास रहना पडे। आशा के दासो के पास चाहे जितनी श्री (भौतिक ऐश्वर्य) आ जाने पर उनकी श्रीहीनता कभी नही मिटती। अतृप्त कामना ही आशा है। कामनादग्ध हृदय कभी तृप्त होना नही जानता। आशा-परायण व्यक्ति का धन-भडार उसकी दृष्टि मे सदा ही अधूरा रहता है। समस्त विश्व का अपना भाग्य बनाने की कल्पना सदा ही उसके मन का दुखाली रहती है। इसलिये आशापरायण लोग सब समय जिस किसी प्रकार धनोपार्जन करने मे सब प्रकार के गर्हित उपायो का सहारा लेकर (धनोपार्जन) करते हुए भी आशानुरूप धन पाने से वचित रहते हैं। कर्तव्य शीलता से सम्पन्न बनकर सन्तोष धन का धनी बनना उसके भाग्य मे कभी नही होता। उनके हृदय कामनारूपी दरिद्रता का अटल निवास बन जाता है। मनुष्य दुराशा (या बन्धनरूप आशा) को त्याग कर अबन्धनकारिणी सदाशा (सत्य निर्भरता) पर (जिसे ईश्वरेच्छा कहते हैं) स्थिर रहे। उत्साह न छोड़ना, खिन्न न होना, कातर न होना ही श्री प्राप्ति का मूल है।

आशापरे न धैर्यम्।

आशापरायण व्यक्ति के पास स्थिरबुद्धितारूपी धैर्य नही होता। आशा का दास धीरज खोये बिना नहीं मानता। व्यावहारिक जगत् मे आशा का स्थान होने पर भी उसकी मर्यादायें भी तो हैं। दु खरहित होकर सुसपादित कर्तव्य के उचित भौतिक परिणाम तक आशा को सीमित रखना चाहिए। निर्मर्यादा आशा तो मनुष्य की मनुष्यता का भयकर शत्रु है। निर्मर्यादा आशा वाला अभागा कुमार्ग से उपार्जन मे प्रवृत्त होकर ससार मे

भाग लगा डालता है। वह धीरज नहीं रख सकता। कर्त्तव्यनिष्ठ, दुराशा से अनभिभूत लोग ही धीरज रख सकते हैं। धीरज के बिना सुख शान्ति दोनो असभव हैं। आशा पूरी न हो तो जीवन का नि सार मान बैठने वाले पर धीरज अर्थात सत्याथ जीवन-धारण करने वाला विवक नहीं होता। आशा पर निभर रहने वाला मानव रस्सी से बधे पशु क समान आशा रूपी रश्मिया से बधा रहकर कर्त्तव्य से बचता और अकर्त्तव्य किया करता है।

माग के काटे इस आशा को धक्का दकर अपने माग से दूर नहीं हटा देगा, तब तक वह ओजस्वी, तेजस्वी, अधष्य, अप्रकाम्य, उदात्त, सम्मानित जीवन नही बिता सकेगा। आशा के दास के पास सम्मान, स्थिरता, धीरज, तेज, ओज और विजयी जीवन नाम की कोई वस्तु नही होती है।

दैन्यान्मरणमुत्तमम्।

दीन बनने से तो मर जाना उत्तम है। अपने को दीन, निकृष्ट निकम्मा, असहाय, कृश, अपरिच्छद समझकर अनुत्साहित हो बैठना मर जाने से भी निकृष्ट अवस्था है। दैन्य न रहना ही जीवन की साथकता या जीवित हृदय वाली स्थिति है।

जीवन के उद्देश्य को उपेक्षित कर जीवनमत रहने की स्थिति को निन्दित तथा जीवन को साथक करने के लिये उत्साहित करना ही इस सूत्र का अभिप्राय है, मृत्यु का आह्वान करना नहीं। मत्यु को अच्छा मानने की मनोदशा किसी भी अवस्था मे प्रशसनीय नही है। जीवन ही जीवित मनुष्य के लिये वरणीय स्थिति है। जीवन का अन्त कर डालने की भावना मानव-देह-धारण के उद्देश्य के विरुद्ध है। अपने को दीन निकृष्ट, निकम्मा समझ कर अनुत्साहित हो बैठना मत्यु से भी निकृष्ट अवस्था मानी गयी है।

आशा लज्जा व्यपोहति।

आशा (अर्थात विषय-लोलुपता जिसे दुराशा भी कहना चाहिये) मनुष्य की लज्जा अर्थात् शिष्टता को नष्ट करती और लोभाग्नि को प्रज्व-

लित करती है। आशा मनुष्य को गर्हित, अविचारित, अनुचित काम में लगा डालती है। आशाधीन मनुष्य लज्जा त्याग कर शिष्टता को तिलाजलि देकर असाधु आचरण करने पर उतर आता है। वह किसी के भी पास अपना लोभ पूरा होने के सपने देखकर उसके आगे हाथ पसार देता है और अपमानित होता है।

आत्मा न स्तोतव्य।

अपनी प्रशसा नही करनी चाहिये। प्रशसनीय आचरण करने की ही आवश्यकता है, आत्मप्रशसा करने की नही। आत्मप्रशसा से श्रोतृसमाज के धैर्य पर आक्रमण होता है। तथा वक्ता स्वय निंदित हो जाता है। प्रशसनीय आचरण स्वय ही मूर्तिमान् प्रशसा बन जाता है।

कस्तूरी के आमोद के लिये शपथ की आवश्यकता नहीं पडती।

आचरण की न्यूनता ही आत्मश्लाघी के मन म अपने न्यूनभाग को वाणी से पूरा करने की प्रवृत्ति को उत्पन्न करती है। प्रशसिताचरणी मानव आत्मतृप्ति की अवस्था में समुद्र के भीतर-बाहर जलपूर्ण घडे के समान पूर्णावस्था म रहता है। जैसे क्षुद्र व्यापारी लोग विक्रेय पदार्थों के निकम्मेपन का उसके मिथ्यागुणकीर्तन से ढक देना चाहा करते हैं, इसी प्रकार समाज को ठगने के इच्छुक धूर्त लोग अपने श्रोताओ को आत्म-प्रशसा से प्रतारित करने का प्रयत्न करते हैं। आत्मश्लाघा बुद्धिमान श्रोताओ को कटु भी लगती और वक्ता की निष्कपटता के विषय में सन्देह भी उत्पन्न भी कर डालती है। सत्य की ही महिमा गाना वाणी की कुशलता है। अपने व्यक्तित्व का गुणगान तो वक्ता की वाणी की अप्रौढता है। अपने व्यक्तित्व का प्रचार करने की भावना प्रचार की असत्यनिष्ठा या मिथ्यायशोभिलाषा का परिचायक होता है।

न दिवा स्वप्न कुर्यात्।

दिन मे नही सोना चाहिये। दिन मे सोने से निश्चित रूप से कार्य-हानि, देह मे वायु की वृद्धि, अग्निमान्द्य शिरोरोग तथा आयु का ह्रास होता है। दिन मे सोना आयुर्वेद मे प्राय प्रत्येक रोग का कारण लिखा है।

छोटे बालक रोगी तथा रात मे जागे हुए लोग दिनो मे सो सकते हैं।

न चासन्नमपि पश्यत्यैश्वर्यान्ध न शृणोतीष्ट वाक्यम ।

धनान्ध व्यक्ति व्यवहारिक सपर्क मे आने वाले हितोपदेष्टा आसन्न व्यक्तियो के व्यक्तित्व की उपेक्षा किया करता है तथा उनके हितकारी वचनो पर भी कान नही दिया करता।

राज्यैश्वर्य पाकर अधा बना हुआ राजा या राज अधिकारी अपने सम्पर्क मे आने वालो की उपेक्षा करता तथा राष्ट्र के गुणी लोगो के हितोपदेश पर कान नही देता है। जब कि मनोविकार धनगर्वित साधारण व्यक्ति मे भी अनिवार्य रूप से आ जाते हैं, तब हाथ मे राज्यैश्वर्य जैसी महाशक्ति पा जाने वाले व्यक्ति मे मनोविकारो का आना स्वाभाविक है। जब राज्यैश्वर्य पा जाने वाले लोग अपने आपको राष्ट्र के सेवक न समझ कर राष्ट्र के प्रभु या शासक जाति के स्वेच्छाचार के विशेषाधिकारी नररत्न मान बैठते है, तब इन लोगो की उद्दण्डता की कोई सीमा नही रहती। कर्त्तव्य के अनुरोध मे देश के गण्यमान्य, बुद्धिमान् स्वाभिमानी लोगो के इन उद्दण्ड लोगो के पास जाने के अवसर आते ही रहते हैं।

स्त्रीणा न भर्तु पर दैवतम् ।

आर्यनारियो का पति से अधिक पूजनीय और सेव्य कोई नही है। सत्य ही मनुष्य मात्र का पति या प्रभु है। पतिव्रता नारी के लिये अपने सत्यनिष्ठ सुयोग्य पति की सेवा सत्य की ही सेवा है। मूर्तिमान् सत्यस्वरूप पति की अवज्ञा करने वाली बनना और उसकी सेवा मे त्रुटि करना नारी की कलुषित मनोवृत्ति का परिचायक है। सत्यस्वरूप पति के सेवा धर्म से च्युत होने वाली नारी परिवार तथा समाज की सेवा को भी त्याग देती है। सत्यस्वरूप पति-सेवा स्त्री के समस्त सामाजिक कर्त्तव्यो की प्रतीक है। सत्यस्वरूप पति की सेवा त्यागने वाली स्त्री अधर्म के प्रभाव मे आकर अपने परिवार का तथा समाज का अवश्य ही अहित करने लगती है

तदनुव्रतनमुभयसौख्यम ।

पत्नी पति के समस्त धामिक कृत्या म सहयोगिनी बनी रह, इसमे पति का ही नही दोनो ही का जीवन भर का सुख और हित है । इन दोनो का परस्पर विरोध हान पर गृहस्थसबधी कत्तव्यो की हानि तथा दोनों को निरन्तर क्लेश रहन लगता है । स्त्री का कत्तव्य है कि वह घरलू, सामाजिक या पारमार्थिक सब कामा म सत्यनिष्ठ भर्ता का अनुसरण करे, उसकी अनुज्ञा पाकर ही कोई काम कर और अपने सम्बध म उसकी सुमति बनाय रखे । इसी प्रकार पति के भी पत्नी के सम्बध म गभीर कत्तव्य हैं । जहा दाम्पत्य धम उभयपक्ष से पालित नही होता, वहा के गाहस्थ्य-जीवन का दु खदायी हाना अनिवाय हो जाता है ।

अतिथिमभ्यागतम् पूजयेद्यथाविधि ।

अतिथि (समय निश्चित न कर अकस्मात घर उपस्थित हाने वाले तथा उपस्थित होकर गहस्थ से सेवा पान के परिचित या अपरिचित अधिकारी) तथा अभ्यागत (समय निश्चित करक आन वाल सेवा पान के परिचित अधिकारी) दानो का यथाविधि सत्कार करे । अतिथि तथा अभ्यागत की सवा करन का प्रसग आने पर मनुष्य के सामने यह मुख्य विचारणीय समस्या आ खडी होती है कि इह हमसे सेवा पाने का अधिकार है या नहीं ? आगन्तुक के अपरिचित होन पर उसका परिचय, आने का उद्देश्य तथा गृहस्थ की सेवा करने की शक्ति इन तीनो बातो पर ध्यान रखकर सोचना चाहिये कि आगन्तुक की सेवा के दुरुपयुक्त हाने की सम्भावना तो नही है ? उसकी सेवा करना समाज-कल्याण की दृष्टि से अत्याज्य आवश्यक कत्तव्य भी है या नही ? इन दोनो प्रश्नो का सन्तोषजनक समाधान हो जान पर आगन्तुक लाग अतिथि रूप मे स्वीकृत होने के अधिकारी बन जाते हैं ।

नित्य सविभागी स्यात् ।

अपन उपार्जित धन पर उचित अधिकार देखन वालों को उनका भाग सदा ही देता रह । धनापाजन जिस समाज की सहानुभूति तथा जिन

स्वजन बान्धवों के सहयोग से हो पाता है, उन सबकों, उन सबका अधिकार समाज बन्धन की रीतिनीति के अनुसार राज-कर के रूप में देते रहना चाहिये। इसके अतिरिक्त सामर्थ्यानुसार देश, काल, पात्र का ध्यान रख कर दान भी करना चाहिये। अपने उपार्जन का भोगाधिकारी अपने में ही संकुचित न रखा जाकर, जिस समाज के साथ अपना मन सम्मिलित हो, जिसके प्रति अपनी सहानुभूति हो, उसके कल्याण के अनुकूल अपने जीवन-साधनों को विभाजित करते रहना भी गृहस्थ का धर्म है। गृहस्थ धर्म में दीक्षित लोग समस्त राष्ट्र-कल्याण के उत्तरदायी हैं।

नास्ति हव्यस्य व्याघातः।

योग्य पात्र मे दिया हुआ दान व्यर्थ नहीं जाता। योग्य पात्र मे दिया दान ही हव्य या यज्ञ-सामग्री है। समाज के योग्य सदस्यों की सहायता करना ही समाज की ही सेवा है। समाज-कल्याण मे ही अपना कल्याण है। इस दृष्टि से मानव का जीवन ही एक विशाल यज्ञ का रूप ले लेता है। इस दृष्टि से योग्य पात्र में दान करने वाला दाता ग्रहीता पर कोई उपकार न कर आत्मकल्याण ही करता है।

शत्रुरपि प्रमादी लोभात्।

लोभ में आ जाने पर शत्रु भी अपने शत्रुतारूपी लक्ष्य में प्रमाद कर लेता या अपने लक्ष्य से भ्रष्ट हो जाता है। हमारा शत्रु हमें मिटाना चाहता है। वह हमारा अनिष्ट करने पर तुला होता है। उसे इस लक्ष्य से भ्रष्ट करने के भी कुछ उपाय होते हैं। ऐसे समय उसे ऐसा भारी लोभ देना चाहिये कि जिस लोभ पर विजय पाना उसके वश में न हो। लोभ मनुष्य का निर्बल स्थान (मर्मस्थल) है। निर्बल स्थान पर अव्यर्थ आघात करने से शत्रु को विनष्ट करना सुखकर होता है। लोभ आया तो मनुष्य की संग्राम प्रवृत्ति मर गयी समझो।

शत्रुमित्रवत् प्रतिभाति।

बुद्धिभ्रंश हो जाने पर शत्रु भी मित्र दिखाई देने लगता है। लोभ आ

जान, पर मनुष्य को शत्रु भी विश्वासपात्र हितकारी मित्र प्रतीत होने लगता है। लोभवश हो जाना ही बुद्धिभ्रंशता है। लोभ ही प्रलोभन उपस्थित करता है। शत्रु भी प्रलोभनो के द्वारा मित्र का वेश बनाकर ठगने का प्रयत्न करता है। लोभ के वश मे न आना, जितेन्द्रिय लोगो का काम है। जितेन्द्रिय होकर ही सग्राम विजयी बनना सम्भव है। इन्द्रियो के दास के लिय वीरता नाम की कोई स्थिति नही होती। जितेन्द्रिय लोग ही रणक्षेत्र मे वीरता का सम्मान पान तथा सुनिश्चित विजय लाभ करने के अधिकारी हाते हैं।

मृगतृष्णा जलवद् भाति।

जसे मगतृष्णा जल सी दीखने पर भी जल नही होती, इसी प्रकार वचक लोग लुभावनी बातों के ऐसे हरे-भरे उद्यान लगाकर प्रस्तुत कर दते हैं कि अजितेन्द्रिय योद्धा उन्हे सच मानकर उनके वाग्जाल मे फस जाते हैं और अपने सग्राम करने के लक्ष्य से भ्रष्ट हो जाते हैं। ऐसे अवसरो पर अजितेन्द्रियो की पराजय निश्चित होता है। धोखे के स्थानो मे छिपा तो कुछ और होता है और दीखता कुछ और है। बुद्धि का उपयोग धाखे से बचकर रहने मे ही है। जैसे व्याध मृगो को बीन से मोहित कर उनका आखेट करत हैं, उसी प्रकार शत्रु लोग प्रलोभनो के पाशो से बाधकर मनुष्य का सवनाश करते हैं।

उपालम्भो नास्त्यप्रणयेषु।

अविनीत अश्रद्धालुओ को उलाहना देना या उनकी शाब्दिक निन्दामात्र करना निरथक होता है। विनय, श्रद्धा तथा प्रीति से हीन दुहृदय, अप्रणयी लोग अपने अपराधो पर उपालम्भ रूपी सामान्य दण्ड का कोई मूल्य नही लगाते। उन्हे तीव्र दण्ड देने की आवश्यकता होती है। लज्जाहीन अविनीत अश्रद्धालुओ पर उलाहने का कोई प्रभाव नही होता। उन्हे उलाहना देकर उनका कुमार्ग नही छुड़ाया जा सकता है। वे साम की नीति स वश म न आकर दण्डनीति के योग्य हाते हैं।

उपालम्भ दो प्रकार का होता है—एक तो गुणो का स्मरण दिलाकर

कि ऐसे प्रतिष्ठित कुल मे उत्पन्न हुए तुम्हारे लिए यह क्या उचित था ? दूसरे—दोषो की निन्दा कर कि तुम जैसे अयोग्य व्यक्ति और कर ही क्या सकते थे ।

दुर्मेधं सामसच्छास्त्रं मोहयति ।

म्लेच्छो के शास्त्र अर्थात अनात्मज्ञ लोगो के लिखे हुए ग्रन्थ अल्पबुद्धि लोगो को ठगते हैं। मिथ्याशास्त्र या ग्रन्थो की कुसृष्टि दुर्मेधा लोगो को विपथगामी किया करती है। विषयाभिनिवेश या अकर्त्तव्य मे प्रवृत्त करने तथा कर्त्तव्य छुडाने वाले शास्त्र असच्छास्त्र कहाते हैं। यह सारा ससार असद्ग्रन्थो या असच्छास्त्रो का बहकाया हुआ ही तो विपथ मे धक्के खाता फिर रहा है।

किसी की अनुभव सपत्ति उसी के मन रूपी खेत की उपज होती है। उस अनुभव सम्पत्ति का गणित या लेखाजोखा ही शास्त्रो का रूप ले लेता है। शास्त्र सच्छास्त्र असच्छास्त्र भेद से दो प्रकार के होते हैं। ग्रन्थ लेखक लोग अपने जीवन मे बुरी भली घटनाओ के रूप मे अमृत तथा विष दोनो ही का अनुभव करते हैं। किसी भी विचारशील लेखक को अपने अनुभूत विष को ग्रन्थ रूप नही देना चाहिये। उसे तो अपने अनुभूत दुष्प्रसगो को ससार को उसके दुष्प्रभाव से बचाकर अपने मे ही जीर्ण होने देने के लिये गुप्त रखना चाहिये।

अपने मे सत्यदर्शन कर चुका हुआ मोहातीत ज्ञानी ही श्रुति, स्मृति तथा शिष्टो के आचरणो को अपने हृदयस्थ सत्य के शासन की कसौटी पर कसकर इन सबकी एकता के सम्बन्ध मे सदेह रहित होकर अपने व्यावहारिक जीवन मे शास्त्र को मूर्तिमान् कर देता है।

सत्सग स्वर्गवास ।

सत्सग ही स्वर्गनिवास है। इस दुख भरे ससार मे सन्तसमागम ही एकमात्र सार है। सन्त लोग इस झुलसती हुई मरुभूमि के ठण्डे जलस्रोत हैं। सन्तो का सन्तो से समागम कभी-कभी बडे पुण्यो से होता है।

आर्यं स्वमिव पर मन्यते।

कर्त्तव्याकर्त्तव्य के विचार से सम्पन्न उदारमति सज्जन लोग दूसरों से जिस बर्ताव की आशा करते हैं, वे स्वयं भी दूसरो के साथ वही बर्ताव करते है। सज्जन वे हैं, जो दूसरो के साथ अपनी मनुष्यता की मर्यादा मे रहकर बर्ताव करते है। यह सम्पूर्ण वसुधा उदारचरित लोगो की दृष्टि मे उन्हीं का विराट परिवार है। जो कामना का दास है जिसने कर्त्तव्याकर्तव्य विचार को तिलाजलि दे रक्खी है वही 'अनार्य' है। अनार्य वह है जो कामनाधीन होकर दूसरो के साथ वही बर्ताव करता है, जिसे वह अपने लिये किसी भी रूप मे किसी से भी नही चाहता।

रूपानुवर्ती गुण।

जैसा रूप वैसा ही गुण होता है। प्राय मनुष्य के रूप के भीतर उसके शौर्य, धैर्य, शान्ति सयम आदि गुण व्यक्त हो जाते हैं। गुणियो के गुण उनके अवयवो तक मे झलका करते हैं। इन गुणो के जानने वाली एक साकेतिक लिपि गुणियो की मुखाकृति पर लिखी रहती है। पुरुष परीक्षा के पारगत लोग मनुष्य को देखते ही उसके गुणो को भाप लेते हैं। मनुष्य के गुण उसके आकार मे भी आ बसते है। साधारण मनुष्य की आकृति से उसके गुणो का परिचय मिल जाता है। यह तो सच है कि गुण मनुष्य के हृदय मे रहता है। इस कारण प्रथमदर्शन से गुण का परिचय मिलना सभव नही होता।

साधारणत प्रथमदर्शन ही अपरिचित के गुणो का अभ्रान्त परिचायक बन जाता है। यही कारण है कि जब तक किसी का साक्षात् दर्शन करके उससे व्यवहार-विनिमय नहीं मिलता, तब तक गुण का परिचय मिलना सभव नही होता।

यत्र सुखेन वर्तते तदेव स्थानम्।

सुखकर स्थान ही निवास योग्य स्थान कहलाता है। सुख मानसिक स्थिति है। मन की अनुकूलता ही सुख की परिभाषा है। मन या तो इन्द्रियो का दास या उनका प्रभु बनने मे स्वतत्र है। इन्द्रियो की दासता मन का

अज्ञान भी है और यह उसके लिय परतन्त्रता की दुःखदायी स्थिति भी है। इन्द्रियो के ऊपर मन की प्रभुता मन की स्वरूपस्थिति भी है और यह उसकी स्वतन्त्रता भी है। स्वतन्त्रता ही सुख है और इन्द्रिय परतन्त्रता ही दुःख है। स्वतन्त्र मन किसी बाह्य अत्याचारी शक्ति की अधीनता स्वीकार करने को कभी भी सहमत नही होता। इसलिये मन की स्वतन्त्रावस्था ही उसका वास्तविक निवास स्थान है। स्वतन्त्र मन का देह उस स्वतन्त्र स्थिति को सुरक्षित रखकर कर्तव्यवश जब, जहा, जिस परिस्थिति मे रहता है, वही वह अपनी स्वतन्त्रता को सुरक्षित रखकर सत्य की अधीनता स्वीकार कर तथा असत्य को पददलित करके अपने मानस सुख को अटल बनाये रहता है।

विश्वासघातिनो न निष्कृति।-

विश्वासघाती का पापमोक्ष, निस्तार, बचाव, सुधार या प्रायश्चित नही है। ससार के समस्त व्यवहार विश्वासमूलक होते हैं। विश्वासघाती प्रत्येक दुराचार कर सकता है। मित्रता का सम्बन्ध ही विश्वास का सम्बन्ध है। सत्य ही मनुष्य मात्र का अनन्य मित्र है। हितकारी होना ही मित्र की परिभाषा है। इस ससार मे केवल सत्य ही वह वस्तु है, जो मनुष्य का हितकारी माता, पिता, प्रभु आदि नामो से सम्मानित होकर मानव के हृदय सिंहासन का सम्राट बनने का अधिकारी है। सत्य से विश्वासघात अर्थात् असत्य की दासता करना ही विश्वासघात नाम का अपराध है। जिसने एक बार मित्रता का हनन किया है, उसे कभी भी यह भ्रान्ति करके कि वह सुधर गया है, विश्वास मत करना। राष्ट्र से विश्वासघात कर राज्य हथियाने वाले देशद्रोहियो की पहचान हो जाने के अनन्तर उन जैसे प्रतारक, ढोंगी नेताओ से सदा सावधान रहना चाहिए।

दैवायत्त न शोचेत्।

मनुष्य दैवाधीन दुर्घटना पर व्यर्थ चिन्ताग्रस्त न हुआ करे। मनुष्य अपना सम्पूर्ण बल लगाकर भी जब यह देखे कि यह काम मेरे वश का नही नही है, तब उसे दैव या ईश्वरेच्छा मानकर, दुश्चिन्ता छोड कर या दैवाधीन

ात को अधिक से अधिक शक्ति प्रकट करने की दैवी प्रेरणा मानकर सका कोई प्रबलतम उचित उपाय कर सके, तो करे।

फलभोग मे दैवायत्तता है। कर्म करने मे दैवायत्तता नही है। सफलता ही पुरुषार्थ है और असफलता ही दैव है। दैव निर्बल है और पुरुषार्थ प्रबल है। मनुष्य यह जाने कि कर्म या पुरुषार्थ करने मे दैवायत्तता नही है। जहा मनुष्य पुरुषार्थ का काम न करे और कुंठित होकर हाथ पर हाथ धर कर खडा हो गया हो, वहा दैव या राम की इच्छा ही मानव की एकमात्र शरण सखा, सुहृद तथा माता पिता होती है। ऐसे समय मनुष्य का कल्याण इसी मे होता है कि वह प्रलय लीलाकारी भगवान् मे आत्म समर्पण कर दे और मृत्यु से अभिन्न होकर या उसे अभिन्नहृदय मित्र के रूप मे आलिगन कर इस सहार—लीला को तटस्थ भाव से देखे और अपने भौतिक अस्तित्व के विनाश मे अपनी स्वीकृति की मुद्रा लगाकर जीवनमुक्तो की मौत मरे।

आश्रितदुःखमात्मन इव मन्यते साधु

उदारचेता साधु पुरुष आश्रितो के दुःखो को अपने ही ऊपर आया हुआ दुःख मानकर उसे दूर करने के लिये अपने व्यक्तिगत दुःखो को हटाने जितना ही सुदृढ प्रयत्न करता है। साधु पुरुष आश्रित के दुःख को उसका व्यक्तिगत दुःख मानने के स्थान मे उसे अपना ही दुःख मानकर उसका प्रतिकार करता है। सत्पुरुष के दुःख को स्वदुःख मानना ही तो साधु की साधुता है और यही उसकी महत्ता भी है।

साधु की आत्मानुभूति उसके दैहिक कारागार से सीमित नही होती। साधु के सबके ही सबध मे कर्तव्य करते रहते हैं। वह उन कर्तव्यो को अपनी अनन्त श्रद्धा से इसलिये पालता है कि उसे विश्व भर के ज्ञानियो में आत्म-दर्शन और आत्मसम्भोग करके जीवन धन्य करना है।

हृद्गतमाच्छाद्यान्यद्वदत्यनार्य

दुष्ट लोग मन की दुष्टता को तो छिपाये रखते हैं और केवल जिह्वा से अच्छी बातें किया करते हैं। दुष्ट लोग मन से तो परवचन, परस्वापहरण,

परपीडन आदि के उपाय सोचते हैं और वाणी से परोपकार, देशसेवा, साधुता आदि का बखान करते हैं।

धूर्त लोग मन की बात छिपाकर दूसरों को ठगने के लिये ऊपर के मन से बनावटी बातें बनाया करते हैं। दुर्जन के मन में कुछ, वाणी में कुछ तथा कर्म में कुछ और ही होता है। महात्मा के तो मन, वाणी, कर्म तीनों में एक ही बात होती है। अनार्य की वाणी में कपट शीतलता होती है परन्तु उसके हृदय में वज्र से भी कर्कश दुर्बुद्धि छिपी रहती है।

बुद्धिहीन पिशाचादान्य

सुबुद्धि हीन व्यक्ति घृणा का पात्र होता है। बुद्धिहीन के आचरण में सर्वत्र लघुता क्षमता, नीचता और पैशाचिकता का प्रदर्शन रहता है। बुद्धि युक्त मनुष्य तो बुद्धि से हिताहित का विवेक करके हेय को त्यागकर, उपादेय को अपनाकर सब काम उचित रीति से कर लेता है। बुद्धिहीन से यह सब नहीं हो पाता। वह अपने स्वेच्छाचार से लोगों की घृणा तथा उपेक्षा का पात्र बन जाता है।

असहाय पथि न गच्छेत्।

अपने साथ आत्मरक्षा के साधन शस्त्रास्त्र लिये बिना मार्ग न चले। यहां पर जानना यह है कि मनुष्य का असहायपन आत्मरक्षा की योग्यता से ही मिटता है। शस्त्रहीन दो चार, दस पांच भी असहाय ही माने जाते हैं। मनुष्य का असहायपन संख्याधिक्य से दूर नहीं होता। प्रजा में आत्मरक्षा की व्यक्तिगत योग्यता से ही देश का असहायपन मिटता है।

पुत्रो न स्तोतव्य।

पुत्र की स्तुति नहीं करनी चाहिये। गुणी पुत्र का गुणग्राही होना पिता का अपराध नहीं है। प्रत्युत यह तो पुत्र को उत्साहित करने वाला पितृधर्म है पर यह पितृधर्म पिता पुत्र में ही सीमित रहना चाहिये। बाह्य जगत् में पुत्र की स्तुति करना आत्म-प्रचार के समान ही श्रोताओं के कानों में भी कष्ट पहुंचाने तथा उनके मन में अविश्वास उत्पन्न करने

वाला अपराध होता है। पिता के मुख से पुत्र स्तुति उसे प्रभावहीन बना देती है। पुत्र स्तुति पिता की आत्म-स्तुति मानी जाती जाती है। पुत्र के विशेष गुणो की स्तुति पिता के मुख को शोभा नही देती, प्रत्युत पुत्र के उन गुणो म भी सदेह पैदा कर डालती है।

स्वामी स्तोतव्योऽनुजीविभि ।

भृत्य लोग गुणी स्वामी को लोकप्रिय बनाये रखने के लिये जनता मे उसके गुणो की प्रशसा किया करें। स्वामी के गौरव, वृद्धि तथा उसके उपकार, भरण तथा रक्षा की प्रवृत्तियो को उत्तेजित करते रहने के लिये उसकी स्तुति करना अनुजीवियो के लिये लाभदायक होता है। भृत्य लोग गुणी स्वामी के प्रति कृतज्ञता तथा प्रभु-भक्ति का प्रदशन कर प्रभु-भृत्य सम्बन्ध को न टूटने दें और समाज मे प्रभु को लोकप्रिय बनाने के लिय उसका गुण-कीतन कर समाज कल्याण के काम म प्रभु के सहायक बनें।

धर्मकृत्येष्वपि स्वामिन एव घोषयेत् ।

अनुजीवी लोग राजाज्ञा से किय हुये लोकोपकारी धमकृत्यो को अपने न बताकर स्वामी या अपनी राजसस्था के ही किये बताया करें। अनुजीवी लोग राष्ट्र मे स्वामी या अपनी राज्यसस्था की धार्मिकता का प्रचार कर उसके लिये जनता का प्रेम और सहानुभूति प्राप्त करे। ऐसा करने से राजा या राज्यसस्था को राष्ट्रसेवा करने मे अनुकूलता और सुकरता हो जाती है।

राजाज्ञा नातिलघयेत् ।

राजाज्ञा के पालन मे अनुचित देर न करें। राजाज्ञा टालने से राष्ट्र मे दुराचारियो को दुराचार करने का अधिक अवसर प्राप्त हो जाता है। राजा का आदश के समय पर पालित होते रहने से नगर, ग्राम, हाट, घाट शिल्प, वाणिज्य आदि समस्त कार्यों मे सौकय व्यवस्था और शान्ति आ जाती है। राज [illegible] अपालित रह जाने पर प्रजा मे मात्स्यन्याय चल प [illegible] ा है [illegible] बलवान [illegible] नों का दबाव या जिसकी लाठी उसकी भैं

ही मात्स्य-याय है। जसे बडी मछली छोटी को खा जाती है, उसी प्रकार बलवान् लोगो के निबलो पर अत्याचार का निष्प्रतिब-ध चलत रहना ही मात्स्यन्याय का अभिप्राय है।

स्वाम्यनुग्रहो धर्मकृत्य भत्यानाम्।

अपन कत्त व्य-पालन से प्रभु का अनुग्रह प्राप्त कर लेना ही भृत्यों का धर्माचरण है। राष्ट्रपालन ही कमचारियो का एकमात्र धम है। राष्ट्र पालन द्वारा स्वामी की कृपा पा लने पर भृत्यो की उन्नति निभर है। स्वामी की कृपा न होने पर शुभकम होना असभव हो जाता है तथा कुपित होने पर ता जीवन विघ्नो स घिर जाता है।

यथाऽऽज्ञप्त तथा कुर्यात्॥

लोकहितकारी कार्यों के सम्ब-ध म राजा की ओर स जब जसी आज्ञा मिले, तब उसे कर लेन म सर्वात्मना लगकर उस अवश्य पूरा करे। राजकर्मचारी राजाज्ञा के बिना कोई काम न करें। जसे प्रभु और भत्य का सम्ब-ध आज्ञा देने और पालन का ही है। जो लोग राजाज्ञा के प्रति आत्म-दमन कर देते है, व ही अपनी और राष्ट्र की दोना की उन्नति करते हैं। राज्य म ऐसे ही लोग बधाई स्वीकार करें।

सविशेप वा कुर्यात।

तात्कालिक विशेप कत्त व्य बिना पूछ तुरन्त कर लिया करें। राजभृत्य लोग राष्ट्रहितकारी व तात्कालिक विशेप काम जो कालबिलम्ब न रह सकत हो, जिनके सम्ब-ध मे राजाज्ञा प्राप्त करने मे अवसर निकल जाने की अधिक सभावना हो, राजाज्ञा न मिलन पर अपनी सूझ स राजा अनुमोदन मिल सकने के पूण विश्वास के साथ कर लिया करे और राजा से कत्तव्यनिष्ठ, स्वामिभक्त होने की प्रशसा प्राप्त करें।

नास्त्यनार्यस्य कृपा ।

अनार्य (अर्थात नीच मनुष्य) अपनी क्रूरता तथा अनुदारता के कारण दूसरो के साथ सदय बर्ताव करना नही जानता। अनार्यों की कर्त्तव्या-कर्त्तव्य की कसौटी आर्यो मे सर्वथा विपरीत होती है। अनार्य लोक कर्त्तव्यो को त्यागते तथा अकर्त्तव्य करते हैं। अनार्य लोग अपनी स्वार्थ बुद्धि से मनुष्य समाज का कल्याण करने वाले कर्त्तव्यो को त्याग देत हैं और मनुष्य-समाज के कल्याण पर आक्रमण किया करते हैं। अनार्य लोग अपनी सकीर्ण दृष्टि से लोभान्ध, कामान्ध होकर अशान्तिकारिणी पशा-चिक लीला किया करते हैं। दया, कृपा आदि उदारगुण आर्यो मे ही पाये जात हैं। जिसमे ये गुण पाये जाते हैं वे अनार्य कहाने वाली जातियो मे उत्पन्न होने पर भी आर्य हैं, जो दया, कृपा आदि करना नही जानते वे आर्य परिवार मे जन्म लेकर भी अनार्य या म्लेच्छ कहात हैं।

नास्ति बुद्धिमता शत्रु ।

बुद्धिमानो के शत्रु नही होते। बुद्धिमान् लोग किसी भी बाह्य शत्रु को स्वीकार नही करते। वे तो मनुष्य की निर्बुद्धिता, अचातुर्य और अज्ञान को उसका शत्रु मानते हैं। निर्बुद्धिता या अज्ञान को पराभूत कर ज्ञानी बन रहते हैं। किसी बाह्य शत्रु को शत्रु मानना ही अज्ञान या निर्बुद्धिता है। बुद्धिमान वे हैं जो अपनी बुद्धि के सफल प्रयोगो से बाह्य शत्रुओ के आक्रमण को स्थिर चित्त से तथा दृढता से व्यर्थ करके अपने मन की शांति को सुरक्षित रखते हैं। बुद्धिमानो की बुद्धिमत्ता शत्रुओ के शत्रुताचरण को अपने विजयी मनोबल से व्यर्थ करने म ही है।

समाज उपेक्षित करता चला आ रहा है। मानव-समाज को सचेत हो जाना चाहिये, अज्ञान के विरोध मे सुदृढ व्यूह (मोर्चा) लगाना चाहिये और इसके विरोध मे महान् आयोजन करने चाहिये। बुद्धिमान् लोग इस अज्ञान रूपी शत्रु को नष्ट कर ससार के सबसे बड़े भयानक शत्रु पर विजयी बने रहते हैं। यह तो असभव है कि बाह्य शत्रु ज्ञानी पर आक्रमण न करें। बाह्यशत्रु तो अपने स्वभावानुसार ज्ञानी अज्ञानी सब ही पर आक्रमण करते हैं परन्तु ज्ञानी लोग उस शत्रु को अपनी हानि का कारण

नही मानते । व उसके आक्रमण का भी सदुपयोग कर लेन की दिव्य कला जान चुके होते हैं । जसे कठोर छिलके वाला नारियल का फल काक-चघुओ को व्यर्थ करता रहता है इसी प्रकार ज्ञानी लोग शत्रुओ को व्यर्थ बनाते रहते हैं ।

शत्रु न निन्देत् सभायाम ।

सभा मे शत्रु की निन्दा न करे । सभा म शत्रु की निन्दा करना अपनी ही धैर्यच्युति तथा शत्रु की स्थिति मे उतारकर झगडा बढाने वाली निन्दनीय स्थिति है । सभा में दोनो पक्षो की पारस्परिक व्यक्तिगत उच्छृखल भर्त्सना-प्रतिभर्त्सना का अपराध प्रथम निन्दक के सिर आ पडता है । सभा म शत्रु की व्यक्तिगत निन्दा न कर उसके मनुष्योचित व्यवहार पाने के अधिकार को सुरक्षित रखते हुए केवल उसके निन्दनीय व्यवहार सुसम्बद्ध सयत भाषा मे अपने स्थिति-परिचय' कौशल-जाल तथा सुगभीर वाक्पटुता से खण्डन कर उसे अप्रतिभ, हतप्रभ और निरुत्तर बनाना चाहिये । शत्रु से नि सार वाग्युद्ध छोडकर शत्रु की निंदनीय स्थिति म उतर जाना अपनी ही पराजय है । उसकी बातो का सयुक्तिक निराकरण कर उसे छिन्न-भिन्न करना और उस उत्तर देने योग्य न रहने देना ही 'सभा-पाण्डित्य' कहलाता है ।

□□□